विचार-वीथिका



शिवशक्ति शरण कोठीवाल

विचार-वीथिका

शिव शक्ति शरण कोठीवाल

मूल्य : प्रेमपूर्वक स्वाध्याय



सन् १९७२-७३ ५००० प्रतियाँ

● (साहू) शिव शक्तिशरण कोठीवाल
सिविल लाइन्स, मुरादाबाद (उ०प्र०)

● प्रथम संस्करण
१९७२-७३

● मूल्य : प्रेमपूर्वक स्वाध्याय

मुद्रक :
● रामकुमार प्रेस एण्ड एलाइड इण्डस्ट्रीज
मुरादाबाद–फोन : ६६५

विषय-सूची

क्रम	विषय	पृष्ठ संख्या

प्राक्कथन

समाज में रहने वाले प्रत्येक मानव की यह हृदयगत भावना रहती है कि वह अपने विचारों एवं अनुभवों को किसी न किसी माध्यम से व्यक्त करें। व्यक्त करने का वह माध्यम लेखनी हो अथवा जिह्वा– दोनों ही उत्तम हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि लेखनी द्वारा बद्ध होने वाले विचार समाज में अधिक समय तक प्रचलित रहते हैं, जब कि जिह्वा द्वारा निकली वाणी कुछ ही समय पश्चात लुप्त हो जाती है।

मैं लगभग अस्सी वर्ष की आयु का एक संभ्रान्त नागरिक हूँ। मैंने अपने जीवन में, समाज में, राष्ट्र में और विश्व में अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं, अनेक व्यक्तिगत अनुभव प्राप्त किये हैं, अनेक प्रकार के नागरिकों एवं व्यक्तियों से साक्षात्कार का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। बाल्यावस्था से ही मेरी ऐसी प्रवृति रही है कि विविध अवस्थाओं में जो भी अनुभव एवं विचार मैंने किये हैं उन्हें अपनी डायरी में लिपिबद्ध कर लिया है। विविध पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ने के उपरान्त भी मैं संक्षेप में उनकी श्रेष्ठतम बातों को अपनी डायरी में लिख लेता हूँ। इस प्रकार की मेरे पास अनेक डायरियाँ हैं। मेरे अति निकट के परिचित और मित्र मेरी इस संचयन की प्रवृति से भली-भाँति परिचित हैं। उनकी सदा यही भावना रही है कि मैं अपनी इन अनमोल डायरियों में से समाजोपयोगी वस्तुओं को अलग कर छपवाऊँ और उसे पुस्तक रूप में समाज में वितरित करूँ जिससे समाज का मनोबल तो उच्च हो ही, साथ ही वर्तमान नवयुवक पीढ़ी का भी कुछ भला हो।

मेरी समझ में यह बात आ गई। लेकिन मेरे सम्मुख एक बहुत बड़ी समस्या यह उत्पन्न हुई कि मेरी विविध डायरियों में, विविध पत्रिकाओं में बिखरी सामग्री का संपादन एवं संशोधन आदि कौन करेगा ? मैं तो समयाभाव के कारण इस कार्य को कर नहीं सकता था। अतः मुझे इस कार्य के लिये एक सुयोग्य, परिश्रमी और ईमानदार व्यक्ति की आवश्यकता थी। मेरी दृष्टि इस कार्य के लिये उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न एवं शान्तचित्त डा० एल० पी० शर्मा, हिन्दी विभागाध्यक्ष, हिन्दू कालिज, मुरादाबाद पर गयी। उन्होंने मेरी भावनाओं को समझा और मेरे निर्देशन में कार्य करने की सहमति दे दी। उन्होंने बड़े परिश्रम और लगन से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। (अब भी इस संकलन के लिए उन्होंने बहुत परिश्रम किया है।) डा० शर्मा के परिश्रम और सद्प्रयासों के परिणाम स्वरूप ही १९६८ में सर्वप्रथम मेरी विचारधारा को पुस्तकाकार मिला। उसके उपरान्त १९७० में 'मणिमाला' नाम से लगभग सवा दो-सौ पृष्ठों की एक और पुस्तक प्रकाशित कराई, जिसमें मैंने अपने प्रकाशित लेखों एवं अप्रकाशित विचारधारा को एक स्थान पर संकलित कर पुस्तक रूप में समाज को भेंट की। मेरा यह परिश्रम डा० शर्मा के परिश्रम के सहयोग से ही सफल रहा।

इस पुस्तक की प्रतियाँ मैंने लगभग सभी विश्वविद्यालयों, उत्तर प्रदेश के सभी डिग्री कालिजों और बरेली रीजन के सभी इण्टर कालिजों को भेंट स्वरूप भिजवाई। मुरादाबाद के अध्यापकों, नागरिकों एवं मेरे सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों को यह 'मणिमाला' मैंने भेंट की। सभी ने इसमें प्रकाशित विचारधारा का एवं मेरे प्रयासों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। इतनी लोकप्रिय पुस्तक निकलवाने के अनेकों बधाई-पत्र मिले।

यों मुझे मुरादाबाद की अनेक शिक्षण-संस्थाओं की भिन्न-भिन्न रूप में सेवा करने का अवसर मिलता रहा है। मेरी विचार-धारा कभी-कभी इन संस्थाओं की पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती है। अध्यापकों एवं विद्यार्थियों ने मेरी विचारधारा पर विचार किया और मुझसे लिखने का आग्रह करते रहे। मेरे परिचित भी मुझे और लिखने के लिये उकसाते रहे। इन्हीं सब बातों से मुझे प्रोत्साहन मिला और परिणामस्वरूप आपके सम्मुख एक और संकलन प्रस्तुत करने में सफल हो सका हूँ। इस संकलन की मेरी इन अनुभूतियों से यदि कुछ लोग लाभान्वित हो सकें तो मुझे बड़ा भारी संतोष होगा और मैं समझूंगा कि मेरा और डा० शर्मा का परिश्रम सफल रहा। इस संकलन में कुछ इस प्रकार की विचारधारा प्रस्तुत करने का क्षुद्र प्रयास किया है जो आज के समाज के लिए कुछ हितकारी प्रतीत होती है। कुछ उच्च विचारकों की विचारधारा, कविताओं एवं सद्वाक्यों को भी कहीं-कहीं गूँथ दिया है ताकि उन लोगों को भी लाभ हो सके जो समयाभाव के कारण विस्तृत ग्रंथों को नहीं पढ़ पाते।

मुझे यह कहने में लेशमात्र भी संकोच नहीं है कि मैं न तो कोई लेखक हूं और न ही हिन्दी भाषा का कोई विद्वान। मैंने तो अपनी विचारधारा को इस संकलन में और इससे पूर्व के दोनों संकलनों में टूटी-फूटी भाषा में अपने प्रेमी पाठकों के सम्मुख रखने का प्रयास किया है। इसी को मैं अपने समय का सदुपयोग समझता हूँ।

अपने प्रिय पाठकों से मेरा विनम्र निवेदन है कि मेरी इस पुस्तक के लेखों में जो त्रुटियाँ रह गई हैं, उनके संशोधन हेतु मेरा ध्यान आकर्षित करने का कष्ट करें। इस कृपा के लिये मैं

उनका अत्यन्त ही आभारी रहूँगा । मेरे इस संकलन को प्रकाशित कराने में श्री अनिल कान्त बंसल तथा श्री प्रदीप कुमार, जो विद्यार्थी कांग्रेस के पदाधिकारी भी हैं, ने बड़ा सहयोग दिया है। कई दिन तक निरन्तर परिश्रम किया है। प्रो० दिनेशचन्द्र भट्ट ने भी इसमें बड़ा सहयोग दिया है । यह सभी धन्यवाद के पात्र हैं, मैं इनके प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। रामकुमार प्रेस एण्ड एलाइड इंडस्ट्रीज के प्रोप्राइटर श्री सुरेन्द्र कुमार के प्रति भी आभार प्रकट करना नहीं भूलूँगा, जिन्होंने इस संकलन को प्रकाशित कराने की सभी कठिनाइयाँ अपने सिर पर सहर्ष ओढ़ लीं। अनेक कठिनाइयाँ होते हुए भी श्री सुरेन्द्र कुमार ने बड़ी लगन से मेरी यह पुस्तक प्रकाशित की। वे सभी सज्जन भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने मेरे जाने या अनजाने में मुझे इस संकलन के प्रकाशित कराने में सहयोग दिया है तथा जिनकी विचारधारा किसी भी रूप में मेरे इस संकलन में प्रयुक्त हुई है।

धन्यवाद !

नन्दलाल निवास
सिविल लाइन्स,
मुरादाबाद (यू०पी०)
फोन : १४२, ७०३

शिवशक्ति शरण कोठीवाल

समर्पण

प्राचीन और प्रचलित परम्परानुसार रचनाओं, एवं संकलनों आदि को पूज्यों, गुरुओं और हितैषियों को समर्पित करना चाहिए। इसका विचार रखते हुए पिछले संग्रहों की भाँति ही मैं अपना यह तुच्छ संग्रह भी अपने परम पूज्य गुरुदेव श्री १०८ संत श्री गिरीशानन्द जी 'गिरि' उत्तरकाशी निवासी, (जिनकी प्रेरणा से तोटकाचार्य आश्रम का निर्माण वहाँ हुआ) के परम पावन चरणों में भक्ति एवं श्रद्धापूर्वक सादर समर्पित करता हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि ग्रंथ को संतों को समर्पित करने पर उसके दोष भी गुणों में परिवर्तित हो जाते हैं।

यद्यपि मेरे पूज्य गुरुदेव आज लौकिक रूप से इस असार संसार में विद्यमान नहीं है, पर उनका दिया हुआ प्रसाद आज भी मेरा और मेरे परिवार का पथ-प्रदर्शन कर रहा है। मुझे भली-भाँति स्मरण है, जब मेरी अवस्था लगभग १३ वर्ष की थो, उन्होंने सर्वप्रथम हमारे यहाँ पधारने की कृपा की थी। उस समय अति आग्रह करने पर उन्होंने हमारे यहाँ 'चतुर्मास' किया था। इस अवसर पर नेत्रों को उनके दर्शनों का तथा कर्ण-छिद्रों को उनके पावन उपदेशों का एवं सत्संग का तथा उनके विचारों को सुनने का असीम लाभ प्राप्त होता रहा। और वह समय बड़े आनन्द से व्यतीत हुआ। सम्पूर्ण परिवार पर भगवत-लीनता का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा था। प्रायः प्रति पाँच-छः वर्ष उपरान्त वह हमारे यहाँ पधारते थे। कभी-कभी जब वे आते थे, तों मैं उनके चरण-कमलों को दबाने के

लिये स्वाभाविक रूप से जुट जाया करता था। किसी के कहने से नहीं, अपितु अपनी श्रद्धा और भक्ति से प्रेरित होकर ही ऐसा करता था। उनके मना करने पर भी नहीं मानता था। कभी-कभी मौज में आकर वे अपनी कृपा से स्वयं भी पैर दबाने की आज्ञा दे देते थे। एक समय मैं और मेरे चचेरे भाई रामप्रकाश जी उनके चरण दबा रहे थे। किसी मग्नावस्था में गुरुदेव कहने लगे—"भई, तीन जन्मों में तो अवश्य ही मुक्ति मिल जाती है।" और तत्काल ही अपने पूर्व दो जन्मों का वृत्तान्त सुनाने लगे और कहने लगे कि "यह मेरा तीसरा जन्म है, और इसके उपरान्त मुझे पुनः जन्म नहीं लेना पड़ेगा। मेरी मुक्ति हो जायगी।" अपने पूर्व जन्म की कथा उन्होंने इस प्रकार सुनाई—

"मैं अपने प्रथम जन्म में गौ-हत्यारा था। गायें मारा करता था। एक बार एक महात्मा ने कहा, कि तुम गायें क्यों मारा करते हो? गायें मारना बन्द करो। मैंने कहा कि बच्चों का पेट कैसे भरेगा? महात्मा ने कहा कि सब ठीक हो जायगा; तुम गाय मारना छोड़ दो। मैंने यह कुकर्म उसी दिन से छोड़ दिया। दूसरा जन्म मेरा एक जमींदार के यहाँ हुआ। एक बार एक किसान के पेट में मैंने लात मार दी, वह बेचारा बहुत तड़फा। कुछ दिन बाद वह ठीक हो गया, परन्तु मुझे पश्चात्ताप रहने लगा। अब यह मेरा तीसरा जन्म है, जिसे तुम लोग देख ही रहे हो। मेरे इस पैर में जो दर्द रहता है और दबाने से भी नहीं जाता, यह मेरे दूसरे जन्म में उस किसान के लात मारने के ही परिणाम स्वरूप है। उसी पश्चात्ताप की अग्नि से मैं जल रहा हूँ। तुम लोग भी प्रयत्न करो तो तीसरे जन्म के उपरान्त अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हो।

कोई बुरा काम मत करो; क्योंकि कर्मानुसार तुम्हें अवश्य ही फल भोगना पड़ेगा। यह भो नहीं हो सकता कि तुम्हारे पाप-कर्म, पुण्य-कर्मों से बदल कर समाप्त हो जायें। उन बुरे और अच्छे कर्मों का तो बुरा ग्रौर अच्छा फल अलग-अलग भोगना ही पड़ेगा। कोई इस नियम में परिवर्तन नहीं कर सकता। गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने यही कहा है।" यह सारी कृपा उन्होंने हमारे प्रेम और स्वाभाविक श्रद्धा के ही कारण की।

वे जब भी उत्तरकाशी से उतरते थे, हमारे परिवार-जनों को आभास हो जाता था कि अब श्री स्वामी जी पधारने वाले हैं। वे अन्तिम बार सन् १९२४ में यहाँ पधारे और उसी वर्ष उत्तरकाशी में महात्माओं को उपदेश करते हुए उन्होंने अपने नश्वर और निःसार शरीर को त्याग दिया। हमारे यहाँ से चलते समय वे कह गये थे कि अब पुनः उत्तरकाशी से उतरना और तुम्हारे यहाँ ग्राना नहीं हो सकेगा। अब मेरा समय समाप्त होने वाला है।

मैं अपनी बाल-बुद्धि और अपरिपक्व विचारधारा के कारण उनकी दी हुई शिक्षाओं का मूल्य तब इतना नहीं समझता था, जितना कि आज समझ रहा हूँ। फिर भी उनके मुखारबिन्दु से निकले एक-एक शव्द को मैं उस समय भी बड़े ध्यानपूर्वक सुनता था और तदनुसार ही उन्हें अपने जीवन में उतारने का प्रयास करता रहता था। मैं लिखने की, बोलने की और कार्य करने की आज जो भी क्षमता प्राप्त कर सका हूँ, वह केवल उन्हीं महापुरुष के चरणों की कृपा से है। यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है, कि जिसको भी उन्होंने आशीर्वाद दिया, उसका सदैव कल्याण ही हुआ। इसका अनुभव मुझे और मेरे

भाइयों को खूब है। वह मुझे बता गये थे कि मेरी गृहिणी का स्वर्गवास इस निश्चित समय के अन्दर होगा और परिणाम-स्वरूप सन् १६२६ में मेरी धर्मपत्नी स्वर्ग सिधार गईं। स्वामी जी ने मुझसे यह प्रतिज्ञा कराई थी कि पत्नी की मृत्यु के उपरान्त मैं दूसरा विवाह न करूँ। ईश्वर की कृपा से इस प्रतिज्ञा का पालन मैं पूर्णरूपेण कर सका हूँ।

गुरुदेव अत्यन्त सरल, प्रसन्नचित्त तथा हँसमुख थे और सदा ईश्वर के ध्यान में मग्न रहते थे। जो भी उनसे प्रश्न पूछता था उसे वे बड़ी सरलता और स्पष्टतापूर्वक उत्तर दे देते थे। वे संस्कृत के अद्वितीय विद्वान थे। उन्हें गीता, शास्त्र, वेद, उपनिषद् आदि सभी का ज्ञान था। कभी-कभी तो वे संस्कृत में वार्तालाप भी करते थे। उन्होंने मुझे गीता, विचार-चन्द्रोदय, प्रकिया ग्रन्थ आदि का अध्ययन कराया था। वे प्राय: कहा करते थे कि बिना प्रक्रिया ग्रन्थ का अध्ययन किये गीता, उपनिषद्, शास्त्र आदि का समझना कठिन ही है।

मैं पुन: उनके चरणारविन्दों का स्मरण करते हुए अपनी यह तुच्छ भेंट उन्हीं गुरुदेव के चरणों में सादर समर्पित करता हूँ।

शिवशक्ति शरण कोठीवाल

मु रा दा बा द

दो शब्द

इस पुस्तिका के लेखक साहू शिव शक्ति शरण कोठीवाल मुरादाबाद नगर के एक कर्मशील एवं प्रतिष्ठावान पुरुष हैं। आप एक उच्चकोठि के विचारक और समाज-सेवी हैं। जहाँ एक ओर आप सन्त-महात्माओं और विद्वानों की वाणी का निरन्तर श्रवण, मनन और अध्ययन करते रहते हैं, वहाँ दूसरी ओर अपने अमूल्य अनुभवों को खुले हाथों लुटाने में भी संकोच नहीं करते।

शिक्षा क्षेत्र में साहू साहब की गणना नगर के गिने-चुने शिक्षा उन्नायकों में है। बहुत समय से आपका सम्बन्ध नगर की अनेक प्रमुख शिक्षा संस्थाओं से किसी न किसी रूप में रहा है। स्थानीय प्रतापसिंह गर्ल्स इण्टर कालिज तथा गोकुल दास गुजराती पोस्ट ग्रेजुएट गर्ल्स कालिज को, जिसके आप प्रबन्धक एवं मंत्री हैं, आप ही की सेवाओं द्वारा अपने वर्तमान स्तर तक पहुँचाने का श्रेय है।

संतों की सेवा तथा विद्वानों के सत्कार में आपकी सदैव रुचि रहती है। आप खुले हृदय से यह मानते हैं कि वे अपने जीवन में जो कुछ भी प्राप्त कर पाये हैं वह सब गुरु महाराज तथा अन्य सन्त-महात्माओं की कृपा का ही फल है, उनका स्वयं का कुछ भी नहीं। साहू साहब को स्वाध्याय के प्रति बड़ी रुचि है। अपने व्यावसायिक कार्यों में तथा शिक्षा संस्थाओं के प्रशासन

सम्बन्धी कार्यों में अति व्यस्त रहते हुए भी वे स्वाध्याय के लिये पर्याप्त समय निकाल लेते हैं तथा अनेक उच्चकोटि के विद्वानों एवं सन्तों द्वारा लिखित सुन्दर ग्रन्थों का अध्ययन निरन्तर करते ही रहते हैं। धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन के लिये तो आप सदैव ब्रह्म मुहूर्त में प्रातःकाल ३ बजे से उठकर पर्याप्त समय निकाल लेते हैं।

साहू साहब के अनेक हस्तलिखित एवं दो प्रकाशित संग्रहों तथा कुछ मौलिक निबन्धों को देखने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। साहू साहब के अनेक मित्र समय-समय पर अप्रकाशित संग्रहों में से श्रेष्ठ वस्तुओं को प्रकाशित कराने का आग्रह करते रहे हैं, पर प्रकाशन की ओर कभी आपने अपनी अभिरुचि नहीं दिखाई। जहाँ तक मुझे ज्ञात है कुछ घनिष्ट मित्रों के बहुत अधिक आग्रह पर ही आपने अपने लेखों का एक संकलन 'मणिमाला' के नाम से पिछले वर्ष प्रकाशित कराया था। और अब भी विशिष्ट व्यक्तियों के आग्रह पर ही प्रस्तुत संकलन प्रकाशित कराया है।

बात यह है कि आत्म-ख्याति के सम्मान की ओर आपका कोई आकर्षण है ही नहीं। यदि साहू साहब को अपनी 'मणि-माला' के प्रकाशनार्थ इसी प्रकार प्रेरणा तथा प्रोत्साहन मिलता रहा तो शीघ्र ही वह एक अच्छे और उच्चकोटि के साहित्यकार और निबन्ध लेखक के रूप में प्रकट होंगे।

लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की ही कृपा दीर्घ काल से आप पर तथा आपके परिवार पर रही है। इन दोनों का यदि अनुपम सामंजस्य देखना है तो इनमें तथा इनके परिवार में देखा जा सकता है।

प्रशंसा से तो यह कोसों दूर भागते हैं। कोई भी कार्य चाहे वह साहित्य सृजन का हो अथवा समाज सेवा का, प्रशंसा प्राप्ति के उद्देश्य को लेकर नहीं करते। इनका तो उद्देश्य प्रत्येक क्षेत्र में निष्काम सेवा ही है। उसी में स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करते हैं।

इनके लेखों की भाषा प्रसाद गुण से ओत-प्रोत रहती है। गूढ़तम् भावों को सरल भाषा द्वारा व्यक्त करना आपकी भाषा की विशेषता है। पढ़ते ही नेत्रों के सम्मुख चित्र-सा खिच जाता है। कहीं भी बनावट नहीं आने पाई।

डा० वीरेन्द्र प्रकाश
डिप्टी डायरेक्टर आफ ऐज्यूकेशन
इलाहाबाद (उ० प्र०)

ब्रह्मलीन, श्रीमत्परमहंस श्रीस्वामी १०८ गिरीशानन्द जी
गिरि तोटकाचार्य आश्रम, उत्तरकाशी



लेखक के परमपूज्य गुरुदेव

: १ :

मनोभाव और स्वास्थ्य

शरीर का प्रत्येक रोग मानसिक चिकित्सा के द्वारा दूर किया जा सकता है। प्रतिदिन रात्रि को आधा घन्टे सोचिये निश्चिन्त होकर कि हमने किसी के प्रति अपने हृदय से दुर्भावना दुर्विचार या निर्दयता का व्यवहार तो नहीं किया है, यदि किया है तो क्षमा मांग लें। उनके प्रति कहे गये शब्दों को वापस ले लीजिये। यदि आपकी मित्र अथवा सम्बन्धी से खटपट हो गयी है, तो अपने दुराव को समाप्त करने के लिये शक्ति भर प्रयास कीजिये।

प्रियजनों के साथ हमारे सम्बन्ध स्नेहपूर्ण नहीं हैं तो उन्हें बनाने के लिये और अपने प्रयत्नों को सफल बनाने के लिये क्षमा मंत्र सीख लें तभी आप शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक दृष्टि से स्वस्थ रह सकते हैं।

यदि आपका यह विचार है कि किसी ने आपका अहित या अपकार किया है और आपको दुखी और निराश किया है तो उससे क्षमा मांगो। वास्तव में क्षमा मांगने का अर्थ भावना का परिवर्तन है–उन भावों को निकाल देना है जो आपको मानसिक दृष्टि से निष्क्रिय बना रही हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि जिनको आपने क्षमा कर दिया है उनसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित

करें अपितु इसका यह अर्थ है कि आप अपने विपक्षी के हृदय में ऐसे भाव जगा दें जिससे वह यह समझने लगे कि आपने उसे क्षमा कर दिया है इससे वह आपके प्रति अधिक उदार एवं मैत्री पूर्ण भाव रख सके ।

अतीत की बातें भुला देना इस लिये भी आवश्यक है जिससे हम भविष्य की प्रगति व सफलता पर भरपूर विचार कर सकें तभी हम वर्तमान के साथ सामन्जस्य कर पायेंगे ।

यदि आप यह समझते हैं कि आपने अतीत में कोई गलती की है और वह बीता हुआ समय दुखदायी रहा है तो उस विचार को मन से निकाल दीजिये । अब जो शेष समय है उसी के रूप में वह बीता समय वापस मिल रहा है । अच्छा समय अभी नष्ट नहीं हुआ है । वर्तमान के सभी वरदान उपलब्ध हैं । मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ और ईश्वर को धन्यवाद देता हूं जिसने मेरा अच्छा समय लौटा दिया है । इसी संदर्भ में एक कथा उल्लेखनीय है :--

एक स्त्री को उसके पति ने छोड़ दिया उसके मन में अपने पति के प्रति बड़ी कटुता रहने लगी । उदासीनता, निराशा और घबराहट की अवस्था ने उसको मानसिक व शारीरिक दोनों ही रूप से अस्वस्थ कर दिया, और वह भाग्य को दोष देने लगी । कुछ समय बाद उसको लकवा मार गया । तब तो और भी दुखी होने लगी । उसने सत्संग और धर्म ग्रन्थों का अवलोकन किया जिससे उसके विचारों में परिवर्तन होने लगा । यह भी उसके मन में आया कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता अपने आप है । यह लकवे की स्थिति उसने अपने आप ही उत्पन्न की है । कटुता पूर्ण विचार, अपने भाग्य को बुरी तरह से कोसना आदि का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि अंग प्रत्यंग में विकार

उत्पन्न होकर लकवा मार गया और अंगों ने काम करना बन्द कर दिया। विचारों के परिवर्तन होते ही उसके स्वास्थ्य में भी परिवर्तन आरम्भ होने लगा। स्त्री ईश्वर को अपने भाग्य के अच्छे समय के लिये धन्यवाद देती रही। कुछ कार्य भी करने लगी सोचने लगी अभी उसका भाग्य नष्ट नहीं हुआ है सफलता मिल रही है। इन विचारों ने ऐसा प्रभावित किया कि वह पूर्ण स्वस्थ हो गई। जीवन का नया अध्याय उसके सामने आ गया और उसका जीवन अत्यन्त सुखी और उपयोगी हो गया। अपने अतीत या वर्तमान की घटना को यदि व्यक्ति बिसार दे और उसका रूप परिवर्तित कर उसके स्थान पर नये विचारों को जन्म दे सके तो शरीर और मस्तिष्क का स्वस्थ होना स्वतः ही अधिक सहज रूप से सम्भव हो सकेगा।

चिकित्सा के क्षेत्र में आन्तरिक परिवर्तनों के साथ साथ बाह्य परिवर्तन के परिवर्तनों की भी आवश्यकता होती है। रोगी के बैठने का कमरा, भोजनालय, शयनागार आदि गन्दे रहने से भी अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। इससे रोगी पर निराशा छायी रहती है और उसके व्यवहार में अस्त व्यस्तता सी दिखाई देती है। उस कमरे को यदि अच्छे अच्छे चित्रों से सजा दिया जाय (जिसमें रोगी रहता है) तो उसकी कल्पना में चित्र घूमते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि विचारों की दिशा बदल जाती है और रोगी स्वस्थ होने लगता है। उसे अपना रूप चित्रों जैसा दिखाई देता है। अनेक व्यक्ति हैं जो सिग्रेट पीना छोड़ नहीं सकते परन्तु जब कभी उनके मन में छोड़ने की आ गयी तो बिना क्षण भर की देरी किये हुये इस व्यसन को छोड़ देते हैं। यह क्या है मन की मानसिक शक्ति ही

है। बुरी आदतों को छोड़ने के लिये इच्छा शक्ति की ही आवश्यकता नहीं वरन् कल्पना शक्ति का भी संयोग होना आवश्यक है।

रहस्य की एक बात :

यदि आप अपना स्वास्थ्य बढ़िया बनायेंगे तो जो शक्ति शरीर और मस्तिष्क को प्राप्त होगी उसके आधार पर युद्ध करेंगे। विजय आपके हाथ रहेगी।

जीवन एक युद्ध है, साहसिक कार्यों की एक लड़ी है। सफल होने का रहस्य क्या है ? यह जानना कि उसे क्या करना है। जो कर्त्तव्य है उसकी योजना बनाना और उसके अनुसार दिन प्रतिदिन कुछ न कुछ करते हुए बढ़ते जाना ही तरक्की करने का ढंग है। जो कहते हैं उसके लिये जूझने के लिये तत्पर रहते हैं। वे जानते हैं कि जीवन फूलों की सेज नहीं। जीवन एक बड़ा संघर्ष है जिनमें समस्याओं को हल करना पड़ता है, तथा निर्णय पर पहुँचना पड़ता है। इसे याद रखना चाहिये। हार नहीं माननी चाहिये। जब पहलवान लड़ते हैं तो एक को एक गिराता है लेकिन फिर भी बार बार लड़ते रहते हैं और वह हार खाकर फिर लड़ता है और अन्त में एक विजयी हो जाता है। गिर जाना हार नहीं। इससे सीख लो कि कभी क्षेत्र से मत भागो। अपनी हार से निराश न होओ। अपनी शक्ति संचय कर सारी ताकत लगा दो। कुछ भेद उठा कर मत रखो। जीवन युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये लड़ते रहने की, खड़े रहने की ही आवश्यकता है। कार्य क्षेत्र के अखाड़े में उखड़ने की आवश्यकता नहीं है। बुद्धिमत्ता तथा धीरज से लड़कर असफलता रूपी राक्षसी को हटा सकते हैं।

: २ :

स्वस्थ और सशक्त राष्ट्र का निर्माण

"सर्वम् परवशं दुःखं सर्वम् आत्मवशं सुखं"। पराधीनता में सब कुछ दुःख रूप है और स्वा धीनता में सब कुछ सुख रूप। दीर्घकालीन संघर्ष के उपरान्त हमें स्वतन्त्रता की प्राप्ति हुई है। अतः इस स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये हमें एक स्वस्थ और सशक्त राष्ट्र के निर्माण की महती आवश्यकता है।

अतः यह विचारणीय प्रश्न है कि यह राष्ट्र क्या है और उसका निर्माण कैसे हो सकता है। किसी राष्ट्र की महानता का मापदण्ड उस देश की विपुल धनराशि, सम्पत्ति, मिल, फैक्ट्रियाँ इत्यादि नहीं हो सकतीं और न ही उसकी भौगोलिक सीमाएँ ही उसे महानता दे सकती हैं। राष्ट्र की महानता का आधार तो राष्ट्र के वे स्त्री-पुरुष होते हैं, जिनके चरित्र में सेवा और त्याग की ज्योति झलकती है, जिनके तन में बल छलकता है और जिनकी आत्मा में पवित्रता की गंध है।

राष्ट्र और है ही क्या ? राष्ट्र के निवासियों का शरीर, मन और आत्मा ही तो राष्ट्र है। यदि किसी राष्ट्र के निवासियों में तन, मन और आत्मा का बल नहीं है तो वह राष्ट्र

निर्बल है, यदि बल है तो राष्ट्र सबल है। अतः संयम, व्यायाम, पौष्टिक एवं सात्विक भोजन से तन को, सात्विक विचार, शुद्ध संकल्प एवं सदाचार से मन को तथा सत्संग, श्रद्धा, प्रार्थना पूजा आदि से आत्मा को सशक्त बनाना हमारा कर्तव्य है।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने जब मगध देश पर विजय प्राप्त कर ली तब उसे आस-पास के छोटे-छोटे राष्ट्रों को जीतने की अभिलाषा प्रबल हो उठी। उसने इस राज्य विस्तार की लालसा से चतुरंगिणी सेना सजाई और पश्चिम के दो राज्यों पर विजय करने की ठान ली। इससे पूर्व, वह अपने गुरु आचार्य विष्णु गुप्त कौटिल्य के पास आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु पहुँचा। वहाँ पर प्रशंसा के स्थान पर उसे व्यंगोक्ति का सामना करना पड़ा। उसकी योजना सुनकर आचार्य हँस पड़े। राजा ने कारण पूछा। आचार्य ने पूछा—"तुम्हारा यह अभियान किस बल पर होगा?" राजा ने उत्तर दिया—"आचार्य प्रवर! क्या आप नहीं जानते कि मेरे पास एक विशाल राष्ट्र है।" कौटिल्य ने संदिग्ध होकर पूछा—"विशालता से राज्य लक्ष्मी जीतोगे तुम? हे राजन् राज्य चलाने के लिये विशालता नहीं सत्य चाहिये। कनेर का वृक्ष बहुत लम्बा होता है किन्तु उससे मूसल नहीं बनाया जा सकता। इसी प्रकार पहले अपने राष्ट्र में सत्य का संचार करो उसके बाद ही विजय संजो सकोगे। यदि विशालता के ही भरोसे रहोगे तो इसे भी खो बैठोगे।"

जार्ज वाशिंगटन अमेरिका के निर्माता माने जाते हैं। ब्रिटेन से अपने राष्ट्र को मुक्त कराने के पश्चात् उसने अपनी

सेना हटा दी। तब सेनापतियों ने उससे पूछा–"अब राष्ट्र की रक्षा कैसे होगी, राज्य किस प्रकार स्थिर रहेगा, यह आप क्या कर रहे हैं? वाशिंगटन ने पूरी आत्मीयता से उत्तर दिया–"सेनापतियो, हमारे राष्ट्र की मेरुदण्ड सेना नहीं होगी, हमारे राष्ट्र की सामूहिक शक्ति उसके निवासियों की समृद्धि होगी। हमें ऐसी प्रजा का निर्माण करना है जो राष्ट्र की रक्षा के दायित्व को समझे और साथ ही उस गुरुत्तर दायित्वको पूरा करने की शक्ति और साहस उसमें हो। हम अपने देश के प्रत्येक नागरिक को तन और मन से ऐसा विकसित करना चाहते हैं कि जब भी राष्ट्रीय महत्व का यानी राष्ट्र रक्षा का प्रश्न आये तो प्रत्येक नागरिक सैनिक वेश में अपने घर से निकल कर स्वतः ही राष्ट्रीय पताका के नीचे आकर खड़ा हो जाये। जब राष्ट्र की रीढ़ में बल होता है और उसके मानस में चरित्र की ज्योति होती है तो बात की बात में अजेय सेना का निर्माण हो जाता है।

फ्रांस की राज्य क्रान्ति इतिहास की महान क्रान्ति है। रूसो और वाल्तेयर इस क्रान्ति के अग्रणियों में से थे। वाल्तेयर एक चौराहे पर क्रान्ति भरा भाषण दे रहा था और भीड़ को विद्रोह का कारण बता रहा था। वहाँ पर विद्यालय के बहुत से विद्यार्थी भी आ गये और वाल्तेयर की जय-जय के नारे लगाने लगे और कहने लगे हम क्रान्ति चाहते हैं। क्रान्ति के लिये अपना रक्त चढ़ा देंगे। उसे विद्यार्थियों की इस खोखली शपथ पर विश्वास नहीं हुआ। वह कहने लगा लड़को तुमने ऊपर भी गौर किया है अपने पीले जर्द चेहरे देखे हैं। इन रक्तहीन चेहरों में रक्त कहाँ, जो तुम रक्त का अर्पण करोगे? स्वतन्त्रता चाहती है शरीर का उबलता हुआ रक्त, खाली शब्दों

का रक्त नहीं । जाओ इन सूखे शीतल चेहरों में रक्त उत्पन्न करो । खाली उत्साह से कोई कार्य नहीं बनेगा इससे तो रहा सहा रक्त भी सूख जायेगा ।

"प्रजा का आरोग्य, राष्ट्र का ऐसा खेत है जिसमें शौर्य और यश की फसलें पैदा होती हैं । जो राष्ट्र रोगी है, जो शरीर से पंगु है वह मन से अन्धा भी है । रोगों के चंगुल में फँसा राष्ट्र अपनी दुर्बलता के कारण न समृद्धि की सीढ़ियाँ चढ़ सकता है न समृद्धि की योजना बना सकता है ।" इस प्रकार का विचार जर्मनी के महाकवि गेटे ने प्रकट किया है ।

महर्षि अरविन्द घोष ने बड़ौदा कालेज के छात्रों को विदाई-आशीर्वाद देते हुये कहा था "सब सत्यों का निचोड़ तुम्हारे सामने सिर्फ एक सत्य है । निर्बलता से बड़ा पाप जीवन में कुछ नहीं है । तुम्हारे सभी अभियान केवल इसी पर विजय पाने के लिए हों यही मेरी कामना है । जहाँ तुम इस कुम्भकर्ण से मुक्त हो गये, समझ लो एक महान विजय प्राप्त कर ली । बड़े से बड़े गौरव को इसके पश्चात् विजय कर लेना सहल हो जायेगा ।"

एक बार महर्षि दयानन्द व्याख्यान दे रहे थे । उनकी तेजस्वी वाणी से प्रभावित श्रोतागण चुपचाप बैठे थे । एक ओर स्त्रियाँ थीं दूसरी ओर पुरुष । महर्षि दयानन्द कह रहे थे कि भक्त के मूल में भी शक्ति का योग होना चाहिए । चाहे वे देश भक्त हों, चाहे ईश्वर भक्त । भक्ति का मेरुदन्ड बल ही है । बलवान जातियों की देशभक्ति निभती है, निर्बलों की नहीं । कदम कदम पर कभी मनोबल को और कभी शरीर

बल को परीक्षा देनी पड़ती है। इसी बीच दो साँड लड़ते हुए आ गये और सीधे स्त्रियों की ओर घुस पड़े। श्रोताओं में शोर और भगदड़ मच गयी सबको अपनी अपनी पड़ी थी। स्त्रियों की ओर किसी का ध्यान नहीं था। स्वामी जी ने आव देखा न ताव मंच से कूद पड़े और दोनों साँडों के सींग पकड़ कर उन्हें ऐसे अलग कर दिया जैसे कोई बड़ा पुरुष दो बच्चों को जुदा कर दे। साँड वहाँ से चले गये।

नमक सत्याग्रह का युग था। रविन्द्र नाथ टैगोर के कुछ प्रशंसक उनसे मिलने आये। और कहा "हजारों नर नारी जेल में ठूंसे जा रहे हैं, कृपा करके लोगों को उबारें। ये अन्ध-श्रद्धा से मारे जा रहे हैं। देश भक्ति कितना तुच्छ विचार है। यह सब माया नश्वर है, यह भूमि जड़ है फिर जड़ से इतना मोह क्यों ?" उन्होंने कुछ गम्भीर स्वर में, एक व्यक्ति से पूछा– क्या उनकी माँ जीवित है ? उत्तर मिला, हाँ। रवि बाबू ने कहा कि आप उसका सिर काट कर लायेंगे ? सदस्य बोले– वाह साहेब ऐसा कैसे हो सकता है ? क्या आप मुझे इतना नीच समझते हैं ? रवि बाबू–'यदि आप नहीं ला सकते हो तो किसी और को काट कर लाने की अनुमति दें।'

सदस्य–आप अनुमति की बात कह रहे हैं ? उसका मैं पहले ही सिर उतार लूंगा जो वहाँ जायगा।

रवि बाबू मुस्करा उठे–बस गाँधी जी और उनके साथी अपनी माँ पर इतनी ही भक्ति रखते हैं। अन्तर केवल इतना है कि आपकी माँ एक बेटे की माँ है और उनकी माँ कोटि कोटि भारत जन की माँ 'भारत माँ है।'

राष्ट्र का मेरुदण्ड है उसका चरित्र। चरित्र के केन्द्र बिन्दु के चारों ओर को राष्ट्र का विस्तार है। यह बिन्दु जहाँ ओझल होता है वहीं राष्ट्र की कड़ियाँ बिखर जाती हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि चरित्र के अभाव में विशाल साम्राज्य नष्ट हो गये। चरित्र राष्ट्र का प्राण है। चरित्र सम्पन्न छोटे से छोटा राष्ट्र भी बड़े से बड़े चरित्र विहीन राष्ट्र की अपेक्षा अधिक बलवान और समृद्ध होता है। चरित्र के ही खूंटे से बँधा होता है राष्ट्र का स्वातन्त्रय और राष्ट्र का स्वातन्त्रय मदोन्मत हाथी के समान होता है जो कच्चे खूंटे से नहीं बाँधा जा सकता चाहे वह खूंटा कितना ही बड़ा क्यों न हो ?

इस प्रकार एक सशक्त और स्वस्थ राष्ट्र बनने के लिए देश के पास विशालता और शक्ति ही नहीं अपितु सत्यता और चरित्र की भी अत्यधिक आवश्यकता होती है।

: ३ :

विदेशी दासता की जंजीरें

इस्लाम और ईसाई मत किस प्रकार भारत में फैला ? इन दोनों मतों ने मानसिक दासता किस प्रकार उत्पन्न की ? किन अवस्थाओं में दासता को एक राष्ट्र या देश स्वीकार कर लेता है ? ये विचारणीय प्रश्न हैं।

यह स्वाभाविक ही है कि जब कोई शक्तिशाली जाति निर्बल और विश्रंखलित जाति पर आक्रमण करके विजयी होती है तो पराजित जाति को प्रत्येक क्षेत्र में अपना अनुगामी बनाने का प्रयास करती है। अपनी भाषा, साहित्य, संस्कृत और धार्मिक परम्पराओं को पराजित जाति पर अरोपित करती है। जो इन सब का अध्ययन करते हैं और इन पर विश्वास रखते हैं उन्हें पुरुस्कार, प्रशंसा-पत्र व नौकरियाँ दी जाती हैं। इस प्रकार विजेता जाति दास जाति को साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति से अपने धर्म और जाति के नायकों को दिखा कर जबरन श्रद्धा रखने पर विवश करती है। परिणाम यह निकलता है कि पराजित जाति विजेता जाति का यशोगान करने लगती है और निरन्तर हीन भावनाओं से ग्रस्त होती जाती है।

इसी प्रकार विजित जाति धीरे-धीरे शासक जाति के धर्म को भी स्वीकार करती जाती है।

शारीरिक निर्बलता और पराजय का बुरा नतीजा यह होता है कि व्यक्ति हर दृष्टि से शासक जाति को श्रेष्ठ समझने लगता है। इससे विजित जाति में मानसिक और शारीरिक दासता बढ़ती है। दूसरी भाषा और उनकी प्रशंसा पढ़ते-पढ़ते वह यह मानने लगता है कि शासकों का ही सब कुछ श्रेष्ठ है। स्वयं की भाषा व संस्कृति दीन-हीन है। भाषा से ही गुलामी बढ़ती है। मनोविज्ञान का यही नियम है। जिस बात को बार बार कहा जाता है (चाहे वह गलत या निराधार ही क्यों न हो) या उल्लेख किया जाता है वही हमें सत्य प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार दीर्घ काल तक ऐसा वातावरण बना रहने पर हम अपनी भाषा, वेश-भूषा और संस्कृति सभी कुछ भूल जाते हैं। हमको शासक जाति की प्रथाएँ, वेशभूषा, खान पान, रहन सहन सभी अच्छे लगने लगते हैं। हम उनकी सभी बातों को ग्रहण करने लगते हैं और स्वयं को भूल जाते हैं।

भारत में बहुत सी विदेशी भाषायें उर्दू, फारसी, अंग्रेजी आदि बहुत काल से चली आ रही हैं। भाषाओं की आड़ में धर्म फैलाया गया इस गुप्त विचार पर किसी ने ध्यान नहीं दिया और विदेशी प्रभाव बढ़ता ही चला गया।

भारतीय संस्कृति एवं भाषा–वेषभूषा आदि

दिमागी गुलामी का आरम्भ उर्दू से हुआ मुसलमानों ने भारत की फूट के कारण भारत को जीत लिया, उन्होंने उर्दू के माध्यम से इस्लाम मत का प्रचार खूब किया और बलपूर्वक भी हिन्दुओं को मुसलमान बनाया। उर्दू के पढ़ने वालों को शासन द्वारा में खूब नौकरियाँ दीं गईं, जागीरें दीं गईं, पुरस्कार

तथा सम्मान आदि दिये गये। इस प्रकार इस्लाम सभी घरों में फैलता चला गया। उनकी जीवन पद्धति, इस्लाम के नियम, आदर्श, वेशभूषा आदि सभी भारत में व्याप्त हो गये। इस्लामी आदर्श और इस्लामी संस्कृति का बड़ा प्रचार हुआ। बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे गये। अन्त इनका भी हुआ। इनमें फूट होने के कारण अंग्रेज आ गये। इन्होंने भी यही किया। अपनी भाषा का प्रचार किया, अपनी अपनी भाषा वालों को नोकरियाँ दीं, पुरस्कार आदि दिए फिर ईसाई मत फैलाया जिन्होंने ईसाई मत ग्रहण कर लिया, उनको और भी अधिक अच्छी नौकरियाँ दी गई। स्कूलों, कालिजों में ईसाई धर्म की पुस्तकें पढ़ाई गईं। अंग्रेजी और अंग्रेजियत के प्रति आकर्षण बढ़ता ही चला गया। शिक्षित-अशिक्षित जनता पर अंग्रेजी ढंग से रहने, अंग्रेजी पोशाक पहनने, अंग्रेजी बोलने का बड़ा प्रभाव पड़ा। इसके साथ ही साथ हिन्दुस्तानियों के मन में अपनी संस्कृति, भाषा, साहित्य, धर्म, आदर्श, वेशभूषा के प्रति हीनत्व का भाव उत्पन्न हो गया। बालकों के हृदय पर भी इन सब बातों का (बच्चों का हृदय कोमल होता है) प्रभाव बड़ी आसानी और शीघ्रता से बैठ गया। उन्हें अंग्रेजी भाषा इत्यादि ग्रहण कराई गई तथा ईसाई धर्म के देवी देवताओं, भौतिकवादी दृष्टिकोण, रीति रिवाज, वासना लोलुपता आदि के प्रति उनका आकर्षण बढ़ाया गया। और परिणाम यह निकला कि अंग्रेजों की भाषा और संस्कृति आदि को पढ़ और देखकर उनकी सब बातें हमें अच्छी लगने लगीं। यह मानसिक गुलामी आज भी इस देश में छाई हुई है जो कि त्याज्य है। हमें संस्कृति और धर्म को फैलाने के लिए हिन्दी के माध्यम, हिन्दी और संस्कृत ग्रन्थों में उपलब्ध भारतीय संस्कृति और धर्म को अपनाना चाहिए। यह सभी जानते हैं कि जितनी भाषायें निकली हैं सभी संस्कृत से निकली हैं यदि

भारतवासी अपनी संस्कृति लाना चाहते हैं और देश की रक्षा करना चाहते हैं तथा स्वतंत्रता को स्थिर रखना चाहते हैं तब हिन्दी भाषा को प्रोत्साहन दें और संस्कृत को अपनायें। जितने आदि ग्रन्थ हैं वह सब संस्कृत में हैं। उन्हीं विचारों को लेकर हिन्दी के माध्यम से शुद्ध भारतीय संस्कृति का प्रचार हो सकता है और उर्दू-अंग्रेजी की प्रथा को बदला जा सकता है। अतः हिन्दी-संस्कृत बच्चों को पढ़ाना अति आवश्यक है।

हिन्दी संस्कृत ही हमारे धर्म की रक्षा कर सकती है और भारत की स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकती है। हमको चाहिए कि हम पाश्चात्य जीवन पद्धति और विचार धारा का अन्धानुकरण न करें।

यथा सम्भव हम अपने देश, धर्म, भाषा और संस्कृति के प्राचीन गौरव को पुनः लाने का प्रयत्न करें। अपने देश की संस्कृति के अनुसार सादगी से रहें। कोई देश दूसरों के अन्धानुकरण से बड़ा नहीं बनता अपितु वह तो नकलची ही कहलाता है। उसे तो अपनी ही विशेषता उत्पन्न करनी चाहिए। अपनी भाषा, संस्कृति और वेशभूषा से ही देश का उत्थान सम्भव है। जार्ज बर्नाड शा ने सत्य कहा है, "ऐसा व्यक्ति जिसका अपनी निजी भाषा पर अधिकार नहीं है, कभी भी दूसरी भाषा में कुशलता प्राप्त नहीं कर सकता।"

अंग्रेजी के एक लेखक ने लिखा है "वेश भूषा की सादगी सज्जनता का चिन्ह है। उससे हमारी भावनायें जीवित रहती हैं उससे आदमी का धर्म, जाति, देश ओर संस्कृति सब कुछ स्पष्ट हो जाते हैं। स्वच्छ और भद्र वस्त्र पहने व्यक्ति के लिए

सभी ऊँची सोसायइटियों के दरवाजे खुले रहते हैं जब कि बहु-मूल्य भड़कीले वस्त्र व्यक्तित्व का ओछापन व्यक्त कर देते हैं। दिखावटीपन और नकलचोपन से हम दूसरों की दृष्टि में घृणा के पात्र बनते हैं। अच्छे गुणों और उत्तम चरित्र के विकास के लिए आपके वस्त्र भी अपनी संस्कृति के अनुरूप ही रहें। सभी जातियाँ अपनी अपनी वेशभूषा श्रेष्ठ बतलाती हैं। किन्तु सारा विश्व इस तत्व को भलीभाँति जानता है और स्वीकार करता है कि भारतीय वेशभूषा आकर्षक और सुखकारी है। हिन्दू नारी द्वारा पहनी हुई साड़ी विश्व में सबसे सुन्दर और आराम दायक बताई गई है। पुरुषों द्वारा पहनी धोती कुर्ता और जाकेट आदि भी सुन्दर और आराम दायक माने गई है।

हमारी संस्कृति का आधार

मनुष्य के बौद्धिक व आत्मिक विकास में विद्यालयों का महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में यही हमारी संस्कृति के पोषक रहे हैं। विश्वविद्यालय शब्द यद्यपि आधुनिक मालूम पड़ता है किन्तु इसके अर्थ भाव से हम भारतीय युगों से परिचित है। नालन्दा, तक्षशिला, घर्रदिम कोट, काशी, गया जैसे अनेक स्थल हमारे सांस्कृतिक केन्द्र थे जहाँ न केवल भारतीय वरन पूर्व एशिया के सुदूर स्थित भागों से भी ज्ञान पिपासु विद्यार्थी बहुत बड़ी संख्या में एकत्रित होते थे। शिक्षक और शिक्षार्थी एक प्रकार का संयुक्त सामाजिक और पारिवारिक जीवन यापन करते थे। हमारे ज्ञान पीठ देश के उन्नत मस्तिष्कों द्वारा संचालित धार्मिक और सामाजिक आदर्शों के विकास के स्थान थे, जहाँ विद्यार्थियों को स्वच्छन्द व स्वतन्त्र वातावरण देकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का ज्ञान कराया जाता था। इन

विद्या मन्दिरों के विद्या स्नातकों का ध्येय होता था 'शिक्षार्थ आओ सेवार्थ जाओ।' यहाँ से निकले शिक्षार्थी अपने अध्ययन के आधार पर प्राप्त चरित्र, अनुभव और कलाओं से देश को सम्पन्न बनाया करते थे।

चाणक्य जैसे बेजोड़ राजनीतिज्ञ, चन्द्रगुप्त के समान वीर योद्धा और शासक ऐसे ही विद्यालयों से तैयार होते थे। इन विद्यापीठों में संचित परम्परागत सांस्कृतिक, लौकिक, पारलौकिक ज्ञान के कारण ही पाँच हजार से भी अधिक वर्षों से विदेशी आक्रान्ताओं के आघात सहने के पश्चात् भी यह संस्कृति ज्यों की त्यों रही है। यूनान, ग्रीस, रोम, ईरान आदि की संस्कृति और परम्पराओं का सूर्य अस्त होते हुए देखा है किन्तु हमारी संस्कृति का सूर्य निरन्तर तीव्रता के साथ चमक रहा है। इससे स्पष्ट है कि कोई ऐसी विशेषता अवश्य है हमारी भारतीय संस्कृति में जिसने काल की परिधि की सीमाओं को बाँध दिया है—वह है हमारी परम्परागत शिक्षा और आदर्श जिनके अन्तर्गत वैधिक स्वतन्त्रता देकर आत्मिक विकास की ओर पूरा ध्यान दिया गया है।

आधुनिक विश्वविद्यालयों में दर्शन कला, विज्ञान, इतिहास आदि की शिक्षा दी जाती है, प्राचीन विद्यालयों की तुलना में निश्चय ही आजकल के विश्वविद्यालय साधन आदि में अधिक सम्पन्न हैं, किन्तु उनमें अध्ययन के साथ न तो लौकिक जगत के यथार्थों से परिचित कराया जाता है और न ही परलौकिक जगत से कोई सम्बन्ध रखा जाता है। यदि केवल ग्रहण शक्ति को ही मानसिक शक्ति मान लिया जाये तब तो आज के विद्यार्थी खरे उतरते हैं परन्तु ग्रहण करना उतना महत्वपूर्ण

नहीं है जितना ग्रहण की हुई शिक्षा द्वारा नई उपलब्धियों का सृजन करना। सहज दूसरे व्यक्ति द्वारा सम्प्रेषित किये ज्ञान को मस्तिष्क में ठूंस लेना ही मानसिक विकास का परिचायक नहीं है। इन विद्यालयों से निकले विद्यार्थी अफसर और अफसरों के क्लर्क तो बन सकते हैं किन्तु अच्छे अन्वेषणकर्ता नहीं बन सकते।

राजनैतिक दृष्टि से आज हम स्वतन्त्र हैं किन्तु बौद्धिक परतन्त्रता से हमें मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकी है। पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार से हमारा विद्यार्थी वर्ग तेजी से प्राचीन विश्वासों को छोड़ रहा है, परन्तु साथ ही साथ पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण करके दास बनता जा रहा है। हम भारतीय संस्कारों से निर्मित शरीर में अमेरिकन आत्मा को सहज एडजस्ट नहीं कर सकते।

आज फिर से युगों पुरानी आध्यात्मिक शान्ति, लौकिक और पारलौकिक सुखों की सन्तुष्टि की प्राप्ति के लिये प्राचीन विश्वविद्यालयों के ढंग की स्वतन्त्र चिन्तन पद्धति विकसित करनी पड़ेगी अन्यथा हम विदेशी संस्कारों की नींव पर एक ऐसा मकान ही खड़ा कर पायेगा जो वर्षा ऋतु के आगमन के छींटे पड़ने से ही धराशायी हो गया हो।

: ४ :

विश्व शान्ति

संसार में सर्वत्र संघर्ष और अशान्ति व्याप्त है। सुख की सामग्री कम है, परन्तु भोगने की इच्छा रखने वाले अधिक हैं। तृष्णा भी अधिक है। अशान्ति का यही मुख्य कारण है। मनुष्य को जो सुख साधन प्राप्त हैं उसी में वह सन्तोष करता तथा अन्य साधन उपलब्ध करने को आकांक्षी होता है। सभी उपलब्ध साधनों को कुटुम्ब के सामान बाँट-बाँट कर उपभोग करते रहते तब यह अशान्ति पैदा नहीं होती। परन्तु ऐसा है नहीं। अधिकाँश लोग अपने सुख को दूसरों के सुख से अधिक महत्व देते हैं दूसरों के सुख का उन्हें कुछ ध्यान नहीं रहता। यदि ध्यान रहता भी है तो उन लोगों का जिनको वह अच्छा समझते हैं। तृष्णा का भी कोई अन्त नहीं है। अपने ही थोड़े से व्यक्तियों के जिन्हें अपना समझते हैं सुख साधन अधिक से अधिक बढ़ाना चाहते हैं, चाहे दूसरों के हिस्से में कुछ न आवे। दूसरों को खाने को मिले या न मिले। इसलिए संसार में विषमता, संघर्ष और अशान्ति है। उसका कारण मनुष्य की एक सीमित स्वार्थ वृति है। इसी स्वार्थवृति पर अंकुश रखने के लिए धर्म और राज्य सत्ता पैदा हुई। धर्म का उद्देश्य है मनुष्य में कर्तव्य भावना पैदा करना। वह बिना किसी के दबाव के स्वयं ही इस प्रकार जीवन यापन करे जिससे वह स्वयं

सुखी रहे और दूसरों के सुख में बाधक न हो। इसीलिए धर्म सत्ता और राज्यसत्ता की आवश्यकता है। इन दोनों में धर्म सत्ता ही उचित काम कर सकती है। परन्तु स्वार्थी लोगों के लिए राज्य सत्ता बहुत आवश्यक है। जिससे वह उन स्वार्थियों पर अंकुश रख सकें। कर्त्तव्य भावना से आचरण होता है वह कुछ समाज के हित में हो सकता है अर्थात् जब तक कर्त्तव्य धर्म का आचरण न होगा, देश सुधर नहीं सकता। राज्य सत्ता के भय से मनुष्य समाज विरोधी आचरण करने से रुक सकता है पर उसका आचरण नहीं सुधर सकता। जब तक राज्य सत्ता निस्वार्थ और कर्त्तव्य भावना वाले व्यक्तियों के हाथों में नहीं जावेगी तब तक स्वार्थी लोग अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए राष्ट्र, जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, व्यवसाय आदि के नाम पर लोगों को गुमराह करके स्वार्थी गुट बनाकर अशान्ति पैदा करते रहेंगे। बहुमत वाला वर्ग राज्य सत्ता पर अधिकार करके अल्पमत वालों का शोषक बन जावेगा, यही कारण है राज्य-सत्ता अपने उद्देश्यों को पूरा नहीं कर पाती। जहाँ-जहाँ अशान्ति और संघर्ष है उसका कारण स्वार्थ है। यदि सब मुख्य धर्मों पर दृष्टि डालें और उनके प्रवेत्तकों और धर्म ग्रन्थों के उद्देश्यों का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि उन सब में धर्म की अभिव्यक्ति सदाचार में मानी गई है।

संयम और अपरिग्रह :

धर्म कहता है यदि सुखी रहना चाहते हो तो कम से कम आवश्यकतायें रखो, सादा जीवन रखो। भोग की वस्तुओं और धन का संग्रह मत करो। जब तक भोगों की तृष्णा को और संग्रह की शक्ति को नियंत्रित नहीं करेंगे तब तक भोग की

सामिग्री चाहे कितनी भी उपलब्ध हो जाये, शान्ति न होगी। जब तक वह बढ़ती रहेगी, समाज में अशान्ति ही रहेगी।

संसार में विषमता दूर करने के लिए और अशान्ति दूर करने के लिए, सब के प्रति समान भाव का व्यवहार करना तथा संयमी और अल्पपरिग्रही जीवन व्यतीत करना आवश्यक है। धर्म का उद्देश्य बिना दबाव और भय के कर्तव्य भावना पैदा करना है।

आजकल संयुक्त राष्ट्रसंघ संसार में शान्ति बनाये रखने में क्यों असफल है ? एक ही मार्क्स विचार वाले चीन और रूस आपस में क्यों शत्रु बन रहे हैं ? इसका कारण अधिक से अधिक भोगों की सामग्री और अपनी सत्ता की इच्छा है। इसी से जीवन सुखी होगा। इस धारणा के कारण अधिक से अधिक धन और सत्ता की चाह है। जिसके हाथ में सत्ता है, संगठन की शक्ति है, वे कानून द्वारा या आन्दोलन द्वारा या हड़तालों द्वारा अपने दल के वेतन बढ़वा लेते हैं। जिनके हाथ में शक्ति नहीं है (कर्तव्य भावना वालों को छोड़कर) वह चोरी, ब्लैक-मार्केट, रिश्वत आदि के तरीके अपनाते हैं।

अमेरिका आदि देशों में जहाँ प्रचुर मात्रा में भोगों की सामग्री है और धन भी बहुत है, भौतिक वस्तुओं के लिए अशान्ति मची हुई है। उसके लिए तृष्णा बढ़ी हुई है। मनुष्य समझता है कि जितनी भी भोग-विलास की वस्तुओं का उपभोग करूँगा उतना ही सुखी होऊँगा। अतः वह अधिक से अधिक धन और सत्ता प्राप्त करना चाहता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के जाँच के संघीय कार्यक्रम के संचालक श्री जे० एज्गर डबर ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि वहाँ जिस तेजी से

जनसंख्या बढ़ रही है उससे अधिक तेजी से अपराध बढ़ रहे हैं। इससे प्रकट है कि मनुष्य देश सेवा, समाज सेवा और सबके सुख में सुख समझने का केवल दिखावा करता है। परन्तु वास्तव में उसमें स्वार्थ है। सीमित स्वार्थ को निकालकर, सम दृष्टिगत कर्तव्य की भावना तथा सुख के सार्वकालिक दृष्टिकोण को स्वायित्व देने के लिए, उसके हृदय में आध्यात्मिकता का दार्शनिक आधार होना चाहिए। धर्म कहता है कि पहले तुम अपने आपको जानो। ······मैं······इस नश्वर शरीर से भिन्न एक अविनाशी और शाश्वत तत्व है। सुख तुम्हारे 'मैं' के आधीन है। अतः संयम से रहो। अति संग्रह मत करो। सार यह है कि विषमता और अशान्ति मिटाने के लिये धर्म आवश्यक है। यह भी सत्य है कि धर्म के नाम पर अनैतिकता और अत्याचार हुए हैं। रक्त की नदियाँ बहा दी गई हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि स्वार्थी लोगों ने साधु या धर्म गुरु बन कर उनका वेश धारण कर लोगों को आडम्बर की भूल-भुलैयों में धँसा कर वास्तविक धर्म की ओर से इतना गुमराह कर दिया है कि लोग धन की तृष्णा रखते हुए, हिंसा और शोषण द्वारा धन कमाते हुए, धर्म के नाम पर ऐसा धन खर्च करते हुए अपने आपको धार्मिक समझते हैं। सर्वसाधारण को और नई पीढ़ी के युवकों को धर्म के मौलिक सिद्धान्त हृदयंगम कराकर सदाचारी जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी जानी चाहिए। यही इस लेख का उद्देश्य है।

: ५ :

अध्यात्मवाद बनाम विज्ञान

"जो लोग कहते हैं कि विज्ञान और धर्म का विरोध है वे या तो बिज्ञान से 'वह' कहलाते हैं जो उसने कभी नहीं कहा या धर्म से 'वह' कहलाते हैं जो उसने कभी नहीं सीखा।" –पोप

वैज्ञानिकों के अनुसार जड़ की परिभाषा इस प्रकार है "जड़ वह पदार्थ है जो कि आकाश को घेरे हुए है। प्रत्येक जड़ पदार्थ परमाणुओं से बना है। जो पदार्थ जितना स्थूल है उसके परमाणु उतने ही घने हैं जो जितना सूक्ष्म है उसके परमाणु उतने ही बिखरे हुए हैं। यही कारण है कि जड़ पदार्थ भिन्न २ घनत्व के होते हैं और उन पदार्थों का फैलाव आकाश में उन परमाणुओं के पास-पास या दूर-दूर होने पर निर्भर है जिस जड़ पदार्थ के परमाणु घने अधिक हैं वह पदार्थ अपने घनत्व के अनुसार कम आकार को घेरे हुए हैं और जिस पदार्थ के परमाणु विरल हैं वह अपनी विरलता के अनुसार ज्यादा आकार को घेरे हुए हैं। यद्यपि आपको जड़ पदार्थ कई कारणों से भिन्न-भिन्न आकृतियों के दिखाई देते हैं परन्तु उनके परमाणुओं में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। परमाणु रूप में वे एक हैं। हमारा नूतन प्राकृतिक विज्ञान जो दिन पर दिन उन्नति

कर रहा है बहुत शीघ्र उस लक्ष्य पर पहुँचने वाला है जहाँ वह जड़ पदार्थों के उन परमाणुओं को समझ और सरल कर जिनसे वह पदार्थ बने हैं। उसे इन परमाणुओं के सरल करने में सफलता प्राप्त होने की ही पूरी आशा नहीं है वरन् उसे जड़ पदार्थों की सूक्ष्म से सूक्ष्म दशा जानने का भी भरोसा है। आज कल विज्ञानवेत्ता अपने यंत्रों से बहुत ही आश्चर्यजनक कार्य कर रहे हैं।

यह हम लोगों का प्रतिदिन का अनुभव है कि जड़ पदार्थ उष्मा से प्रसारित होती है और ठंड से संकुचित होता है। यदि हम किसी पदार्थ को तपाते हैं तो वह पिघल कर तरल हो जाता है और उष्मा लगातार पहुँचाते जायें तो फिर वह वाष्प में परिवर्तित होकर वायु-सा हो जाता है। यदि फिर भा उष्मा पहुँचाना जारी रखें तो वायु स्थिर रूप धारण कर लेती है, जिसको विज्ञान आज तक नहीं देख सका है यद्यपि उसकी उपस्थिति के प्रमाण मिल चुके हैं। अगर ईथर की उष्मा पहुँचाना विज्ञान की शक्ति में होता उसकी और भी सूक्ष्म दशायें हो जाती हैं जो मनुष्य की समझ व बुद्धि से परे हैं। किन्तु खेद है कि इसमें विज्ञान की शक्ति बिल्कुल काम नहीं देती है, इसलिये जड़ पदार्थों की ऐसी सूक्ष्म दशाओं का ज्ञान हमको हो सकना सम्भव नहीं है। हमारी इन्द्रियों की गति इतनी स्थूल है कि वे ऐसी सूक्ष्म दशाओं को जान नहीं सकतीं। यदि हम तीक्ष्ण से तीक्ष्ण सूक्ष्मदर्शी यंत्र की सहायता से भी इन दशाओं को ज्ञात करें तो यह भी हमारी इन्द्रियों के लिए असम्भव है। अतः गोचर पदार्थों के परिवर्तनशील दशाओं के निरीक्षण से यह अनुमान निकला कि प्रकृति का यह नियम है कि उष्मा पाकर स्थूल पदार्थ सूक्ष्म हो जाते हैं। मुझे

ऐसा कोई कारण नहीं प्रतीत होता कि यह नियम जड़ पदार्थों को उन सूक्ष्म दशाओं के लिए, जो कि हमारी इन्द्रियों के ज्ञान से परे हैं क्यों लागू न समझा जाय—और न ही हम यह कह सकते हैं कि वे पदार्थ अपने सूक्ष्म रूप से उपस्थित नहीं हैं, क्योंकि यथोचित उष्मा पहुँचाने से उन पदार्थों के रूप में भी परिबर्त्तन हो जाता है। वे स्थूल रूप से सूक्ष्म हो जाते हैं। अधिक उष्मा पहुँचाने से पदार्थ और भी अधिक सूक्ष्म हो जाते हैं। हम यह बात अनुभव से जान सकते हैं कि जड़ पदार्थ जितना सूक्ष्म होता है उतना ही अधिक आकार में फैलता है तथा उतना ही उसके परमाणुओं का वेग बढ़ता जाता है।

इसको यूँ भी कह सकते हैं कि उष्मा पहुँचाने से जड़ पदार्थ का फैलाव बल व वेग उसी परिमाण में बढ़ता जाता है जिस परिमाण में उसे उष्मा पहुँचायी जाती हैं। किसी विशेष मात्रा वाले पदार्थ को जब हम उष्मा देते हैं तो वह पदार्थ प्रसारित होता है और आकार में उसका प्रसारण उतना होता है जिस अनुपात की उष्मा उसमें पहुँचाई जाती है, उसके परमाणु व अवयवों का वेग भी बढ़ता है।

इस प्रकार के स्पष्टीकरण से प्राचीन युगीन ऋषि-मुनियों के प्रलय वर्णन का समर्थन होता है कहते हैं प्रलय काल में उष्मा की मात्रा बढ़ जाती है।

सावधान

"कुछ जीव ऐसे हैं जिनसे सावधान रहना चाहिए। वे जीव हैं–धनवान, कुत्ता, साँड तथा शराबी।"

--रामकृष्ण परमहंस

"जीवन का हर कदम सिखाता है कि कितनी सावधानी की आवश्यकता है।"

इस जीवन के आरम्भ से अन्त तक यदि सावधान शब्द को ध्यान में रखें तो यह मन्त्र जीवन भर प्रत्येक दशा में सहायक हो जाता है। जहाँ कहीं खतरा होता है वहाँ बड़े बड़े अक्षरों में 'सावधान' लिखा होता है। बिजली घर, जहाँ कहीं भीड़ होती है, तीर्थ स्थलों में, घाटों पर, मन्दिरों में, बसों में, रेलों में तथा अन्य इसी प्रकार के स्थलों पर 'सावधान' का शब्द लिखा होता है। फिर भी हम भूल करते हैं और 'सावधान' शब्द को मस्तिष्क से निकाल देते हैं। परिणाम स्वरूप कहीं जेब कट जाती है, सामान जाता रहता है तथा दुर्घटनाएँ आदि हो जाती हैं। ऐसे ही स्वास्थ्य की ओर देखिये। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए भोजन के विषय में जानकारी दी जाती है। सन्तान को अच्छी शिक्षा दिलाने में माता पिता रुपया खर्च करते हैं और

प्रयत्न करते हैं सन्तान अच्छी बने, परन्तु वह सावधान नहीं रहती और विलासिता तथा बुरी आदतों में फँस जाती है। सावधान रहने पर भी धन चोरी हो जाता है। सम्मान के प्रति सावधान रहते हुए भी अपमान होता है। शरीर से सावधान रहते हुए भी चोटें लग जाती हैं, अंग भंग हो जाते हैं। परिवार में सावधान रहते हुए भी सम्बन्ध विच्छेद हो जाते हैं। व्यापार में सावधान रहते हुए भी हानि हो जाती है। शरीर बीमार पड़ जाता है, मकान में अग्नि लग जाती है। बच्चा खेलते खेलते आग से जल जाता है, स्त्रियाँ खाना बनाते हुए कपड़ों में आग लगने से जल जाती हैं। जन्म से मृत्यु तक संयोग-वियोग लाभ हानि, यश-अपयश आदि होते ही रहते हैं। इस दशा में मनुष्य कहाँ तक सावधान रह सकता है। सम्मति यह है कि आपको सदैव अपने कर्त्तव्य पालन में सावधान रहना चाहिए। उपनिषदकार ने इसलिए 'मा प्रमद'– 'मा' प्रमद (प्रमाद मत करो) चिल्ला-चिल्ला कर कहा है। आप धनसंचय में, अधिकार में, मान-अपमान में, परिवार की रक्षा में, सुख-भोज की तृष्णा में लगे रहते हैं पर तब भी शान्ति नहीं मिलती। यदि आपको शान्ति की आवश्यकता है तो तन, आय, देय, इत्यादि की आसक्ति से सावधान रहिए। एक विषय यह भी है कि मनुष्य को उसके प्रारब्ध के अनुसार सभी प्रकार की अनुकूलता व प्रतिकूलता प्राप्त होती रहती है। इन बातों को छोड़कर आप अपने मन को सावधान रखिए। अपनी इन्द्रियों से सावधान रहिए। यदि आपने अपने मन को सावधान रखकर अच्छी प्रवृतियों की ओर लगा दिया दैवी और गुणों से युक्त कर दिया तो आप मुक्त हो जावेंगे। जो अपने मन को संसार से हटाकर प्रभु में लगा देता है वही सावधान योगी है। आप चित्त वृत्तियों

का निरोध करने में सावधान रहें जिससे वह विषयों में आसक्त न हो जावे। चित्त अशुद्ध चिन्तन से अशुद्ध हो जाता है और शुद्ध का चिन्तन करने से शुद्ध हो जाता है। चित्त को सावधान रखते हुए प्रभु चिन्तन में जोड़ते रहना यही सावधान रहना है।

अहंकार से सावधान रहना अति आवश्यक है। अहंकार में मनुष्य समस्त दैवी गुणों को—जो अनन्त से हमें मिले हैं, स्वयं का गुण मानकर स्वयं को ही ज्ञानी, धनी, बलवान, विद्वान, दयावान, श्री मान्, शक्तिवान, त्यागी, तपस्वी और उदार सब कुछ बना बैठते हैं। इसलिए अविनाशी की सत्ता पाकर भी वह विनाश का बार-बार दर्शन करता है। यह नित्य होकर भी स्वयं को अनित्य देह में बंधा लेता है और इस प्रकार से जड़-चेतन में ग्रन्थि पड़ गई है जो बड़ी कटिनाई से खुल पाती है। यह वर्तमान में स्थित रहकर भूत का मनन और भविष्य की चिन्ता में व्यस्त रहता है।

अब समझ लेने को क्या विषय है ? जिस प्रकार चित्त और बुद्धि साधक को बन्धन से मुक्त करने में सहायक है वैसे ही अहंकार और मन संसार में लिप्त रखने में सहायक है। भगवान भी बारम्बार सावधान करते है कि यही अहंकार सत्य, शान्ति, मुक्ति, अमरत्व एवं भक्ति से विमुख करने वाला है।

इस संसार में जो सत्-असात्, नित्य-अनित्य का विचार करते हुए, अहंकार का त्याग करके इस विश्व के पदार्थों तथा इन पदार्थों को देने वाले को देखता हैं, वही सावधान है। जो शरण रहित है और अपरिमित है।

: ७ :

आत्म-हत्या

आत्म-हत्या हमारे देश में प्रति वर्ष कितनी होती हैं? हमारे देश में १८ लाख ऐसे अपराध होते हैं जिनमें पन्द्रह हजार से सत्रह हजार तक व्यक्ति मानसिक रोगों या उत्तेजनाओं से ग्रसित होकर आत्म-हत्यायें करते हैं। आत्म-हत्या करने वालों में युवक-युवतियों की संख्या सबसे अधिक है। भौतिक और वैज्ञानिक चिकित्सा होने के कारण आराम करने की सुविधायें हमारे पास हैं तब भी पन्द्रह से सत्रह हजार तक लोग जान-बूझकर अपनी हत्यायें कर डालते हैं, यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य है।

भौतिक सुविधाओं की प्रबल लालसा से मनुष्य जितना असंयमी, असहिष्णु और असन्तुष्ट होता जा रहा है, उतनी ही अधिक संख्या आत्म-हत्याकारियों और उन्माद के रोगियों की बढ़ती जा रही है। सन्तोष के बिना कदापि इसमें रुकावट नहीं आयेगी। सबसे अधिक सुख-सुविधा सम्पन्न अमेरिका में आत्म-हत्याओं और पागलों की संख्या सबसे अधिक है क्योंकि वहाँ संतोष का अभाव है।

आगरे में लगभग १७ लाख की जनसंख्या होगी वहाँ चौबीस घंटे में एक आत्म-हत्या की दुर्घटना हो जाती है। ऐसी

घटनाओं में युवकों की संख्या से युवतियों की संख्या अधिक होती है।

१८ से २५ वर्ष की आयु के अविकसित मन वाले, अधिक न सोच सकने वाले बच्चे इस आत्म-हत्या से ग्रसित पाये गये। कुछ बड़े व्यक्ति भी आत्म-हत्या की बातें सोचा करते हैं। ऐसे विचार रखना भी एक मानसिक रोग है जो सम्भवतः गृहस्थिक, सामाजिक, आर्थिक आदि जटिलताओं और क्लेशों के कारण होता है। ये रोगी आधे पागल, उत्तेजित स्वभाव वाले, चिड़-चिड़े या स्नायविक तनाव के शिकार होते हैं।

कारण

बेरोजगारी, आर्थिक तंगी, नौकरी नहीं लग रही है, व्यापार करना नहीं आता, गरीबी के कारण मान हानि, घर वाले परेशान करते हैं, व्यापार में घाटा और दोबारा सँभलने की कोई आशा नहीं, उधार मारा गया, बाजार से साख जाती रही, इज्जत बचाना सम्भव नहीं है, लम्बी बीमारी, पारि-वारिक कलह, कन्या के विवाह का सोच या कोई घृणित तथा गुप्त काम करते पकड़े जाना। परीक्षा में फेल होना, घरवालों के व्यंग वाणों से परेशान, किसी से प्रेम की बात में निराश होना इत्यादि कारणों से मानसिक आघात होने पर पागल हो जाना या आत्म-हत्या कर लेना सम्भव है। यह कष्ट और चिन्ताओं का क्रम चलता ही रहता है। विपत्तियाँ किस पर नहीं आती हैं। विपत्तियों ने किसको नहीं पोसा है, विपत्ति के बादल किस पर नहीं मँडरा रहे हैं। अर्थात सभी विविध विपत्तियों से ग्रस्त हैं।

अब जरा आकाश को लीजिये अभी यह स्वच्छ और नीला है। अभी क्षण भर में न जाने कहाँ से काले बादल आ गये और चारों ओर अंधकार ही अंधकार हो गया। आँधी, तूफान, वर्षा आदि सभी का डर है, किन्तु आँधी, तूफान के बादल हटते हैं और आसमान वैसा ही स्वच्छ हो जाता है। ऐसी ही परिस्थिति मानव की होती है जिससे वह घबरा जाता है और समझने लगता है कि अब उसका अन्त आ गया। परन्तु वास्तविकता यह है कि समस्यायें समय पाकर स्वयं ही दूर होने लगती हैं।

परमेश्वर इन कष्टों को देकर हमारी परीक्षा लेता है और देखता है कि उसकी सन्तानों में कितना धैर्य और कितनी सहनशक्ति हैं। कमजोर व्यक्ति जल्दी निराश हो जाते हैं। किन्तु दृढ़ पुरुष इन विपत्तियों से लाभ उठाते हैं।

आप किसी प्रकार कमजोर नहीं हैं। इस हीनता को और दुर्बल विचारों की कठिनाइयों को मन से निकाल दीजिये।

यह जिन्दगी जीने योग्य है। इसमें मिठास के, कड़वाहट नहीं है अगर है भी तो थोड़े समय की।

महान उक्ति है। —"हे मनुष्यों संसार देवताओं का प्यारा लोक है। तुम यह समझते हो कि मौत के लिए संकल्पे जा चुके हो यह बात नहीं है। हम तुम्हें वापिस बुलाते हैं। बुढ़ापे तक मौत का नाम न लो।" समस्त कठिनाइयों के होते हुए भी मनुष्य का जीवन यश और सौन्दर्य से भरा है। कायर मत बनो, उठो और चेतो, सोच-विचार, कर्म कौशल से सूर्य भगवान के चिरकाल तक दर्शन करते रहो। अनेक युगों और योनियों के बाद यह मनुष्य शरीर मिला है। मानव-जीवन पाकर उसे भव्य उद्देश्यों में लगाना चाहिए।

"भरमि भरमि चौरासी आयो, मनुष्या देही पाई ।
या तन की कछु सार न जानि, फिर आगे चौरासी आई ।।"

—चरनदास

इस देह में ईश्वर बसते हैं, जब तक मनुष्य जीवन है ऐश्वर्य कामना करनी चाहिए । अपने लिये जिएँ, परिवार के लिये जिएँ । यदि परिवार नहीं है तो पीड़ित और दुखित मानवों के दुःख के निवारण के लिये जिएँ । संसार तुम्हारा सहारा चाहता है । कायर मत बनो, जीवन को दृढ़ता के साथ यशस्वी बनाओ ।

जिसमें सद्‌बुद्धि है उसी में सच्चा बल है । उसी में जीवन है निबुद्धि में बल कहाँ ? मनुष्य आवेश में आकर आत्म-हत्या कर डालता है, पागल हो जाता है, विवेक काम नहीं करता है, तनिक बात सहन नहीं होती और अन्त में दुष्परिणाम निकलते हैं ।

हमें क्रोध के समय सावधान हो जाना चाहिए हम बुरा कार्य न कर बैठें । मानसिक वेग को रोकने में ही परम पुरुषार्थ है । मानसिक उत्तेजना में तनिक काम न करें । और विषैली स्थिति से बचने का प्रयास करें ।

प्रभु के विधान में आपका सब कुछ है । अच्छा समय आपको ढूँढ़ता श्रा रहा है । अभी आत्म-हत्या करने की या कष्टों के समाप्त हो जाने की बात न सोचो, समय एकसा नहीं रहता । दुःख के बाद सुख आता ही है ।

: ८ :

अपने दोष

अपना भला चाहने को छः दोष टालने चाहिए–अति निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस, दीर्घ सूत्रता। —नीति

बहुत से व्यक्ति उनसे नाराज हो जाते हैं जो उनके दोष बताते हैं जबकि उन्हें नाराज होना चाहिए उन दोषों से जो कि उन्हें बताये जाते हैं। —बैंनिग

जो तुम्हारे दोषों को दिखाता है उसे गाड़े हुए धन का दिखाने वाला समझो। —अज्ञात

जब कभी मुझे दोष देखने की इच्छा होती है तो अपने से प्रारम्भ करता हूँ और इससे आगे बढ़ ही नहीं पाता।

—डेविस ग्रेसन

महाभारत के समय तुलाधार नामक एक वैश्य था। एक आजिल नामक ब्राह्मण उससे ज्ञान प्राप्ति के लिए गया। तुलाधार ने उससे केवल एक बात कही कि भैया इस तराजू की डंडी को मुझे सदा सीधा रखना पड़ता है। इसी कर्म को करते करते मेरा मन भी डंडी जैसा सीधा-सरल हो गया। दुकान पर बच्चा-बड़ा कोई भी आये तराजू की डंडी एक सी रहती है। इस प्रकार तुलाधार को तराजू से ज्ञान प्राप्त हुआ।

सेवा नाई बाल बनाया करता था और सिर साफ किया करता व मैल निकाला करता था। उसे बुद्धि आई कि कभी अपने मन का भी मैल साफ किया करूँ। इस प्रकार उस कर्म से आध्यात्मिकता की गहराई उसे समझ आने लगी।

खेत की कचरा बीनते हुए मनुष्य को ज्ञान हुआ कि इसी प्रकार हृदय से वासना रूपी कचरा निकाल देने से बुद्धि उपजती है।

गोरा कुम्हार कच्ची मिट्टी को रौंद कर पक्की हाँडी बनाता है, इसी कार्य को करते हुए उसने मन में विचारा कि अपने जीवन को पक्की हंडिया बना लेनी चाहिए। वह हाथ में लेकर थपक कर देखता है कि अमुक हाँडी कच्ची है अथवा पक्की है इस प्रकार बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश होने पर वह संतों की परीक्षा करने वाला बन गया। जब मनुष्य अपने हृदय में झाँक कर देखता है अपनी वस्तुस्थिति पर दृष्टि केन्द्रित करता है तो वह काँप उठता है। पाखण्डियों की बात छोड़िये जो सामाजिकता के बन्धन में रहते हैं रात दिन दोष को गुण और गुणों को दोष बताते हैं। किसी ने कहा है—

ऐब यह है कि करो ऐब हुनर दिखलाओ,
बनो माँ ऐब तो सब पर्दो बशर करते हैं।

यही तो बात है कि मनुष्य अपने स्वयं के लिए गुण दोषों की परिभाषा अलग रखता है। वह झूठ पर भी सत्य का मुलम्मा चढ़ाता है। गलत कार्य करके भी उसे सही दिखाने का प्रयास करता है। स्वयं अन्याय करते हुए भी दूसरों के लिए कहेगा कि वे अन्याय कर रहे है। यदि अपनी गलती परिस्थिति-

वश स्वीकार भी कर लें तो भी यही कहेगा कि मनुष्य गलतियों का पुतला है।

पर अच्छा मनुष्य कहता है कि धर्म ग्रन्थों में लिखी बातों से मैं कितना दूर हूँ मेरे अन्दर कितनी कमियाँ और बुराइयाँ हैं। धर्म ग्रन्थ सभी लोग पढ़ते हैं। मन्त्र स्तोत्र, भजन लाखों करोड़ों पढ़ते हैं पर जीवन की गहराई में कितने लोग जाते हैं। जब मनुष्य जीवन के भी भीतरी पर्दे पर नजर डालता है तो पता चलता है कि उसकी वास्तविक सूरत कैसी है। तभी रोम-रोम से आवाज आती है :—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय,
जो दिल खोजा आपना, मुझ सा बुरा न कोय।

यह सत्य है कि आत्म विश्लेषण ही मनुष्य को उबार सकता है, पापी को धर्मात्मा बना सकता है, नीच को ऊँचा बना सकता है। असंत को संत बना सकता है। बाहर से हम चाहे कितने ऊँचे और पवित्र माने जायें, उससे क्या है बात तो मनुष्य के अन्तरमन की है कि हमारा हृदय कैसा है ?

"अपने ऐबों पर नजर कर अपने दिल को पाक कर,
क्या हुआ गर मुल्क में तू पारसा मशहूर है।"

जिस क्षण से मन को पवित्र, पवित्रतर, पवित्रतम बनाने में जुड़ जाओगे उतना ही जीवन उच्च से उच्चतर और उत्तम से उत्तमतर होता जायेगा और यह तभी हो सकता है जब अपने दोष देखो और दोष दिखाने वाले को समीप ही रखकर उसकी सेवा करो।

: ९ :

सुख, दुख की अनुभूति

जिस सुख के अन्त में दुःख है वह वस्तुतः सुख नहीं दु ख ही है और जिस दुःख के अन्त मे सुख है वह दुःख नहीं सुख है।

—अज्ञात

जो बाहरी चोजों के आधीन है वह सब दुख है और जो अपने अधिकार में है वह सुख है। —मनु

सुख जाने से अमंगल नहीं होता और दुःख आने से किसी का अहित नहीं होता, ऐसा विचार बहुत सामर्थ्य देता है। सुख, दुःख जीवन नहीं है, अतः इससे परे की जिज्ञासा करो।

लोग मुँह से कहते हैं, ईश्वर है। किन्तु विश्वास नहीं करते। लोगों का विश्वास धन और सांसारिक लिप्सा में है। ईश्वर को मानने में नहीं। ईश्वर को मानने के लिये अभ्यास की कोई आवश्यकता नहीं, अटल विश्वास होना चाहिए।

सन्देह की मुद्रा में जागृति होती है। मोह युक्त प्राणी की सेवा मोह रहित होने पर और काम युक्त प्राणी की सेवा काम रहित होने पर ही की जा सकती है। जब दुःख होता है तो साधु की माँग होती है और ईश्वर की याद आती है।

एक बार मैं ट्रेन में सफर कर रहा था। एक सज्जन से भेंट हुई। वह अतिशय दुखित होकर कहने लगे–"अमुक प्राणी चल बसा, बड़ा सदाचारी और प्यार करने वाला था।" मैंने उससे कहा–"तुम भी वैसे ही सदाचारी और प्यार करने वाले बन जाओ जिससे सब लोग तुम्हें चाहने लगें।" उन्होंने तुरन्त मान लिया। उदारता प्यार से अभिन्न नहीं है—सभी प्यार के अन्तर्गत ही हैं। विचार करने से दुःख कम होता है। आप स्वयं पीड़ित हैं तो क्या आप उससे दूसरों के कष्ट मिटा सकते हैं ? कदापि नहीं।

समाज आपके सिद्धान्तों को नहीं देखता। वह देखता है आपके सौन्दर्य को, आपके गुणों को। असल में क्रोध-पीड़ित प्राणी क्रोध रहित प्राणी को देखना चाहता है। किन्तु कहना ही किसी को सुन्दर नहीं बना सकता। जो कुछ आपको मिला है सब ईश्वर का ही दिया हुआ है। ऐसा समझने से ही आप सुन्दर बन सकते हैं।

यदि आप सुखी बनना चाहते हैं तो दूसरे के सुख को सहन करो। दूसरे के सुख सहन नहीं कर सकते तो क्या दूसरे को दुखी देख कर तुम्हारे हृदय में करुणा उत्पन्न हो सकती है ? यदि हाँ, तो तुम सुखी जीव हो सकते हो।

कोई साधक सत्य का अन्वेषण दुःख और अपमान के बाद ही कर पाता है। यदि स्वयं भूखा रहकर दूसरों को भोजन करते नहीं देख सकते तो क्या सत्य का अन्वेषण कर सकते हो ? कदापि नहीं। सत्य के अन्वेषण में यदि तुम सुखी को देखकर प्रसन्न नहीं हो सकते तो क्या सत्य की खोज कर सकते हो ?

नहीं । सत्य की खोज में सुखियों को देखकर प्रसन्न होना और दुखियों को देखकर करुणार्द्र होना सबसे आवश्यक है ।

समाज में जब-जब क्रान्ति आई है तब-तब पद-लोलुपता का विरोध हुआ है । समाज को आपकी सुन्दरता की आवश्यकता है आपके सिद्धान्तों की नहीं । संसार सुन्दर जीवन से सुन्दर बनता है ।

यदि दुख को सहन करोगे तब क्या मोह का नाश नहीं होगा ? मोह का नाश होने में इतनी पीड़ा नहीं है जितनी होनी चाहिये । सेवा का असली अर्थ क्या है ? निर्धनता की व्यथा को न देख सकना । मानव होकर क्या मानव की सम्पति नहीं देख सकते । यदि आपको धनिकों को आकर्षित करना है तो धन की वासना छोड़ दो । जिसको आकर्षित करना है उसकी कामना छोड़ दो । जो कुछ नहीं चाहता उसको सब चाहते हैं । मनुष्य शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम का पुजारी है । जहाँ पर इनको पायेगा वह उसी को अपना लेगा ।

अपने को सुन्दर बनाने में आप यह सोचें कि आप किसके काम आ सकते हैं । जो दूसरों के काम आते हैं वह सुन्दर बन जाते हैं । जिनको ईश्वरवादी होना है वे सोचें कि वह ईश्वर के क्या काम आ सकते हैं जिसके द्वारा जो वस्तु मिली है वह प्यारी होनी चाहिए या वह व्यक्ति जिसके द्वारा मिली है । यदि ईश्वर की कृपा से धन तथा बेटा मिला हो तो वह धन एवं बेटा प्यारा होना चाहिए या ईश्वर ।

जिसको तुम चाहते हो उससे कुछ भी न चाहोगे तभी उसका प्यार मिलेगा । मानव सेवा संघ की भाषा में इसको

साधन तत्व कहा है। सब कुछ लो लेकिन बदले में प्रेम दो। ईश्वर के साधनों के लिए मूल तत्व है कि हम उसके काम आवें। उसमें विश्वास रखें, दादू के शब्दों में ईश्वर दयालु और इस बात के लिए तरसता रहता है कि कोई उसे कहे कि तू मेरा है, सब कुछ तेरा ही है, मेरा कुछ भी नहीं।

"तन भी तेरा मन भी तेरा, पिंड अरु प्रान।
सब कुछ तेरा, तू है मेरा, यह दादू का ज्ञान॥"

: १० :

क्या आप मानसिक दुःख से पीड़ित हैं ?

मन को शान्त, पवित्र और विचारपूर्ण रखो तो तुम्हारा कोई विरोध नहीं कर सकता, यह नियम है ।

—स्वामी रामतीर्थ

जैसे कच्ची छत में पानी भरता है वैसे ही अविवेकी मन में कामनायें धँसती हैं । **—धम्मपद**

मन को हर्ष और उल्लासमय बनाओ, इससे हजार हानियों से बचोगे और दीर्घ जीवन पाओगे । **—शेक्सपियर**

आज के इस युग में मानसिक रोगियों और दुखियों की संख्या में प्रतिदिन बढ़ोत्तरी हो रही है । ऐसा आयेदिन के सर्वेक्षण से ज्ञात होता है । अमेरिका तथा यूरोपियन देशों में सुख और सम्पन्नता के होते हुये भी पागलखाने प्रतिदिन भरे रहते हैं ।

आइये, इसके कारणों पर विचार करें । कारण स्पष्ट है कि इनकी उत्पत्ति मुख्यतः मानसिक निर्बलताओं से होती है इस प्रकार की निर्बलताएँ निम्न प्रकार से व्यक्त की जा सकती हैं:—

१—**मानसिक रोगों से पीड़ित**—मौत और रोगों से सम्बन्धित अनेकानेक विचार मन में विद्रोह मचाये रहते हैं। इसी प्रकार पारिवारिक कलह तथा मित्रादिक से अनबन भी मानसिक रोगों को उत्पन्न करते हैं।

२—**सरकारी नौकरी में उपेक्षा**—जैसे कोई कम योग्यता वाला, सिफारिश या रिश्वत के बल पर नियुक्त होगया या उसकी पदोन्नति हो गयी।

३—**आर्थिक कठिनाइयाँ**—व्यापार में हानि हो चुकी हो, पूँजी समाप्ति पर हो, अधिक खर्च कम आय, वैवाहिक समस्याएँ आदि। जब मनुष्य को इस प्रकार की समस्याएँ घेर लेती हैं तब भी मन उद्विग्न हो जाता है।

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त अन्य अनेक रोग भी होते हैं। वसे आज के युग में मनुष्य का अहं तनिक सी बात से कुंठित हो जाता है और दुख का अनुभव करने लगता है। यही मन में पैठ कर हीन भावना ग्रन्थि का रूप धारण कर लेता है। मन की प्रत्येक भावना जैसे क्रोध, नैराश्य, द्वन्द, अतृप्ति, आतुरता, काम वासना, विक्षोभ, डर, उद्वेग, अभिमान, अहंभाव, अपराधवृत्ति इत्यादि कुंठित भाव गुप्त मन में दबकर विकृति के रूप में फूट निकलते हैं। इस प्रकार कुण्ठा दब कर मानसिक रोग बन जाती है। प्रत्येक उत्तेजक भाव सीमा से अधिक बढ़ने पर विकृति बन जाता है अर्थात पागलपन में बदल जाता है। यही मानसिक रोग की जड़ है। जब हमारे भाव पूर्ण नहीं होते तभी वे मानसिक रोग हो जाते हैं।

मनुष्य के मन में कुंठित भाव गुप्त रूप से ठहरे रहते हैं। जनदूषित विचार जब जड़ पकड़ लेते हैं तब अन्तःकरण दूषित

हो जाता है और उसे वही विकार चारों ओर बिखरे प्रतीत होने लगते हैं। इस प्रकार का प्रत्येक विचार मानस रोग उत्पन्न करता है। इन सब के प्रति अज्ञान और इनके क्षोभ को न सँभाल सकना ही मानस रोग उत्पन्न होने का कारण है।

क्या करना चाहिए जिससे रोग दूर हों—इन विचारों को मन में ठेस न लगने दीजिए। जैसे पत्थर की चट्टान पर पानी बह जाता है। पानी का प्रभाव चट्टान पर नहीं होता। वैसे ही इन सांसारिक विघ्न-बाधाओं को बह जाने दीजिए। उनसे अपनी शान्ति न भंग होने दीजिए। व्यापारिक, पारिवारिक क्लेश, नौकरी में उपेक्षा इत्यादि कठिनाइयां धीरे-धीरे, स्वयं नष्ट हो जायेंगी। बड़ी-बड़ी समस्यायें स्वयं हल हो जाती हैं। प्रतिकूलताएँ गायब हो जाती हैं। बस आदमी को अधिक उतावला नहीं होना चाहिए। साहस और विश्वास के साथ मुसीबतों का सामना करना चाहिए। हमारी सैकड़ों कठिनाइयों का कारण क्षणिक भावुकता तथा क्षणिक उत्तेजनाएँ ही हैं। हमारा मन वश में नहीं रहता। छोटी छोटी बाधाओं को बहुत बड़ा समझ लेते हैं। यदि कुछ समय की प्रतीक्षा करें, समय व्यतीत होने दें तो अनेक कठिनाइयाँ आप ही आप हल हो जायेंगी।

किसी भी मनोविकार के तीव्र होने पर उसके विरोधी शुभ, सात्विक, आत्मिक गुणों का चिन्तन और अभ्यास करना चाहिए। यदि क्रोध से परेशान हैं तो प्रेम का चिन्तन कीजिए। भय का विकार आने पर त्याग और निस्पृहता का अभ्यास कीजिए। प्रत्येक सद्गुण फैल कर मन में शान्ति और सन्तुलन उत्पन्न करता है।

नये ज्ञान, विवेक और नये तरीकों के सोचने से मन स्वस्थ रहता है। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी प्रसन्न और

सन्तुलित रहने का स्वभाव डालिये। यह धीरे धीरे अभ्यास से आ सकता है।

बड़े होकर बच्चों वाली आदत न बनाइये। आतुरता, उत्तेजना, तनिक-तनिक-सी बातों से परेशानी ये सब बचपन की आदतें छोड़ दीजिये।

चिन्ता द्वारा सताये जाने पर सर्वोत्तम उपाय धार्मिक विश्वास है। संसार में प्रभु का शुभ विधान चल रहा है। ईश्वर तो हमारा सदैव शुभ ही करते हैं। इनके द्वारा भविष्य में भलाई होगी। ईश्वर का विश्वास सब भयों से सुरक्षित रहने का रामबाण उापय। है ईश्वर सब निराशाओं की आशा और असहायों का सहाय है। जो कष्ट के समय ईश्वर का चिन्तन करता है उसे बड़ी मानसिक शान्ति मिलती है। जितनी देर ईश्वर-चिन्तन; भजन, पूजन, शुभ चित्रों का दर्शन बना रहेगा उतनी देर सांसारिक चिन्तायें, घबराहट और समस्त क्लेशों से मुक्ति मिलेगी। ईश्वर आदिकाल से संसार के दुखों को दूर करता रहा है।

मन को भटकने मत दीजिए, किसी शुभ कार्य में लगाये रखिये। यदि आप अपने आप को थका समझते हैं तो सोकर ताजगी प्राप्त कीजिए। इससे नई शक्ति आ जायेगी। जिन बातों पर आपका वश नहीं है उनकी चिन्ता न कीजिए।

चिन्ताएँ, हानि, लाभ कष्ट पीड़ायें, यश, अपयश ये तो आते ही रहेंगे। हमें चाहिए कि परिस्थितियों में डटे रहें। उन्हें सहन करें और उनकी उपेक्षा करें। बाहरी संघर्ष होने दें। अतीत को मुड़कर देखने से कोई लाभ नहीं होता है। भविष्य को सुन्दर बनाइये और विरोधी परिस्थितियों में भी अविचल रहिये। यही मानसिक रोगों पर विजय पाने का सरल उपाय है।

: ११ :

ज्ञान और अभ्यास

पहले के अनुभव से नया अनुभव ले सकना, इस क्रिया को ही ज्ञान कहते हैं।
–विवेकानन्द

ज्ञान तीन प्रकार से मिल सकता है। मन से जो सर्वोत्कृष्ट है, अनुसरण से जो कि सबसे सरल है, अनुभव से जो कि सबसे कड़वा है।
–कन्फ्यूशियस

गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है कि ज्ञान और अभ्यास दोनों से मुक्ति मिलती है। अकेले ज्ञान या अकेले अभ्यास से मुक्ति नहीं मिलती यह बात सबको माननीय है।

ज्ञान का अर्थ है जानना। चाहे कोई कैसा ही विद्वान हो और यह जानता हो कि वस्त्र बनाने के लिए अमुक-अमुक यंत्रों की आवश्यकता है किन्तु जब तक उन यंत्रों को प्रयोग करते समय स्वयं न देखेगा, कुछ समझ नहीं सकता और न उन यंत्रों से वह वस्त्र ही तैयार कर सकता है। इसी प्रकार वेदों के अतिरिक्त ईश्वर से साक्षात्कार कराने की कोई और पुस्तक नहीं है। पुस्तकों से केवल इतना ज्ञान होता है कि ऐसा करने से ईश्वर प्रसन्न होता है। यह सब ज्ञान है किन्तु यह ज्ञान परोक्ष ज्ञान

है। जैसे दूध में मक्खन तो है किन्तु मन्थन-क्रिया जाने बिना मक्खन नहीं निकल सकता है। यह विराट रूप दुग्ध है। वेद, शास्त्र आदि मक्खन निकालने की युक्ति बताते हैं। ब्रह्मवेत्ता लोग इस युक्ति के निर्माता हैं। तन, मन, धन, बुद्धि आदि मोक्ष के साधन हैं और अन्तःकरण पात्र (बर्तन) है। ब्रह्मवेत्ता की बताई युक्ति के अनुसार आचरण करना अभ्यास है और ब्रह्म मक्खन है।

मुमुक्षु को चाहिए कि पद्मासन से बैठे और अपनी आँखों को नासिका के अग्र भाग पर स्थिर करके ओ३म् का जप करे। अभ्यास का अर्थ है जो तुमको ज्ञान हो या तुम ज्ञान (विवेक) के द्वारा ठीक समझो उसे करके दिखाओ।

ज्ञान हुआ कि संसार के सब पदार्थ तुच्छ और विषय दुखदायी प्रतीत होने लगते हैं। ब्रह्म सत्य है। सब प्राणी समान हैं। परोपकार अच्छा है। मान-अपमान एक ही वस्तु है। दुःख-सुख कोई वस्तु नहीं। जिस प्रकार मूर्ति-पूजा को कतिपय विद्वानों ने मन को एकाग्र करने का साधन बताया है ठीक इसी प्रकार मुमुक्षु भी मूर्ति में अपने ईष्ट का आह्वान करके उस देवता को जीता-जागता समझते हैं।

प्रत्येक गृहस्थ नर-नारी को चाहिए कि वह सपरिवार प्रातः चार या अधिक से अधिक पाँच बजे (ब्रह्म महूर्त) उठे। सदा धमार्थ चिन्तन करते हुए ब्रह्म महूर्त में उठना चाहिए। संध्या प्रार्थना आदि जो कुछ भी उचित समझें सकुटुम्ब ईश्वर स्तुति करें। गीता आदि ज्ञान की पुस्तकों का पाठ करें। इन सब कार्यों को अधिकाधिक समय प्रदान करें। यदि व्यस्तता के कारण अक्सर समय नहीं मिलता तो शयन से एक घण्टा पूर्व

घर के सभी सदस्यों के साथ सामूहिक रूप से रामायण या कोई अन्य धार्मिक ग्रन्थ का पठन-पाठन करें। कहावत है कि "सौ काम छोड़कर खावे, सहस्त्र काम छोड़कर नहाये, लाख काम छोड़कर दान देवे और करोड़ों काम छोड़कर हरि भजन करे।" यदि सद्आचरण करोगे तो अवश्य सुख पूर्वक गृहस्थ-आश्रम में रहोगे। सभी कार्य अभ्यास से बनता है।

सब प्राणी एक समय और एक स्थान पर भोजन करते रहें और यदि वह परस्पर शत्रु भी होंगे तो भी उनका बैर-भाव नष्ट हो जाता है। और एक घर के मनुष्य ऐसा करें तो कहना ही क्या है।

गृहस्थाश्रम को स्वर्ग से उपमा दी गई है। परन्तु विशेषकर आजकल यह नरक से भी गया गुजरा है। यदि उपरोक्त के अनुसार चला जाय तो घर स्वर्ग का भी आदर्श बन सकता है। कुछ लोग कहते हैं जो सत्य बोले, जो परोपकार में लगा रहे, किसी को दुःख न पहुँचावे उसको पूजन की क्या आवश्यकता। बेशक ठीक है। किन्तु भजन से ही ऐसा करने की प्रेरणा मिलती है। भजन की भावना न हो तो उपरोक्त में से कोई भी भाव नहीं आवेगा। यह आचरण ऐसा ही समझिये जैसे शरीर को जीवित रहने के लिए भोजन की आवश्यकता है। केवल भोजन से मस्तिष्क की वृद्धि नहीं होती उसके लिये भोजन ही आवश्यक है। इसी प्रकार बिना अभ्यास के बाह्य रूप से ठीक बर्ताव करने का विचार तो रहेगा किन्तु पूर्णतया ऐसा उसी समय होगा जबकि वह किसी विशेष अभ्यास से मन को पुष्ट बनावे।

सब से बड़ा अभ्यास ईश्वर के अस्तित्व का स्पष्ट रूप से अनुभव करना तथा उसको स्वयं में प्राप्त करना है। ज्ञान की प्राप्ति अभ्यास के बिना नहीं हो सकती।

: १२ :

अभ्यास से लाभ

बिना अभ्यास के सब भुस कूटना है, जल का विलोना है।
—सन्त नन्द लाल

अभ्यास में शक्ति प्रकट होने का रहस्य निहित है। प्रत्येक मानव यह चाहता है कि उसे सफलता मिले। परन्तु चाहने से ही कुछ नहीं होता, जब तक वह उसके योग्य न बने जिसको वह चाहता है।

"प्रत्येक मानव में आत्मा की अनन्त शक्ति छिपी हुई है। किन्तु मनुष्य को स्वयं उसका भान नहीं होता। वह आरम्भ से ही अपने आप को शक्तिहीन सा मान बैठा है। शक्ति के विकास के लिए क्या-क्या आवश्यकताएँ होती हैं? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। उसके लिए आवश्यक है-शरीर की स्वस्थता और अनुकूल साधन। बाल्यावस्था में शक्ति, प्रकट होने की स्थिति में नहीं होती। मनुष्य अपनी बुद्धि और कर्मों से शक्ति का विकास कर सकता है। जैसे शारीरिक शक्ति की अभिवृद्धि के लिए व्यायाम आवश्यक है उसी प्रकार बौद्धिक शक्ति के लिए स्वाध्याय और चिन्तन नितान्त आवश्यक है।

प्रत्येक कार्य प्रारम्भ में कठिन सा प्रतीत होता है। जब उसे करने में जुट जाते हैं तो वही कार्य सरल लगता है। जिसको हम असम्भव मान बैठे हैं वही सम्भव हो जाता है। आप ही बतायें यह शक्ति कहाँ से आई ? ठीक कहा आपने। यह शक्ति अभ्यास द्वारा प्रकट हो गई।

बड़े-बड़े महात्माओं ने कहा है कि मन को वश में करना अभ्यास कहा जाता है। वास्तव में अभ्यास से ही शक्ति और सफलता प्राप्त हो सकती है।

पुनः-पुनः एक ही कार्य की आवृति करना अभ्यास कहा जाता है। मन इधर उधर भटकता है उसे स्थिर रखकर शान्त करना यानी अभ्यास द्वारा अस्थिर मन की चंचलता एक न एक दिन स्थिरता में परिवर्तित हो जाती है। मन थक कर आत्मा के अनुकूल बन जाता है।

यदि हम किसी कार्य को कठिन न होने पर भी कठिन समझकर छोड़ देते हैं तो वह स्वभावतः कठिन हो जाता है। किसी कार्य को करने से पहले दृढ़ संकल्प की आवश्यकता होती है। इससे असम्भव समझा जाने वाला कार्य भी सम्भव हो सकता है। नैपोलियन का कथन प्रसिद्ध है कि असम्भव शब्द को मानव के शब्द कोष में नहीं होना चाहिए। उधर हमारे प्राचीन संत कबीर का भी कहना है :—

"मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।
परमात्मा को पाइये, मन ही के परतीत॥"

हम देखते हैं कि बहुत से ऐसे कार्य हैं जिन्हें अन्य लोग कर लेते हैं किन्तु हम नहीं कर सकते इसलिए दूसरों को देख

कर उनसे प्रेरणा लेनी चाहिए। प्रयत्न करने पर हम भी वैसा ही कर सकते हैं। न कर सकने के पहले कारण विचारिये यदि कोई कारण है तो अभ्यास और प्रयत्न के द्वारा उसे हटाइये। सबसे पहली आवश्यकता इस दिशा में आत्म-विश्वास की है। मन की कमजोरी को हटाकर साहस के साथ कार्य करने में जुट जाइये।

शक्ति के विकास के लिए समय सापेक्ष है। जिसमें योग्यता या प्रतिभा अधिक होती है वह थोड़े प्रयास से अधिक सफलता प्राप्त कर सकता है। जिसमें इसकी कमी है उसे अधिक श्रम और समय अपेक्षित है। यदि अभ्यास करते हुए श्रम करने पर भी सफलता प्राप्त नहीं हुई तो निराश होने की आवश्यकता नहीं। धीरज के साथ लगे रहिये, उतावली न करिये।

यह निश्चित समझिये कि अभ्यास के द्वारा आप सफलता के निकट पहुँच रहे हैं। जब कार्य सिद्धि के अनुरूप अभ्यास हो जायेगा, सफलता आपके चरण छुयेगी। जैसे मामूली रस्सी के बार-बार घर्षण से पत्थर पर भी चिन्ह पड़ जाते हैं उसी प्रकार मूढ़ विद्याभ्यास से पंडित बन जाता है। नीतिज्ञों का कथन है कि पुरुष तीन प्रकार के होते हैं:—

अधम, मध्यम तथा उत्तम। इनके स्वभाव भर्तृहरि के नीतिशतक के अनुसार इस प्रकार हैं :—

> प्रारभ्यते न खलु विघ्न भये न नीचै,
> प्रारभ्य विघ्न विहेता विरमन्ति मध्याः।
> विहनै पुनः पुनरथि प्रतिहन्यमाना,
> प्रारभ्य चैनतभजनाः न परित्यजन्ति ॥

अर्थात् अधम तो वे हैं जो कार्य को कठिन समझकर उसकी ओर प्रवृत ही नहीं होते। मध्यम वह है जो कार्य प्रारम्भ कर लेते हैं, पर विशेष कठिनाई के आने पर रुक जाते हैं और उसे छोड़ देते हैं। उत्तम वह हैं जो अनेक बाधायें आने पर भी आगे बढ़ते जाते हैं।

अब आप ही सोचिये कि आप तीनों में से कौन सा बनना चाहते हैं। जीवन में सफलता चाहते हैं, तो पुनः पुनः अभ्यास कीजिये। उत्साह हीन होकर उसे बीच में न लटका रहने दीजिए। विश्वास रखिए शक्ति प्रकट होगी और सफलता अवश्य मिलेगी।

जो कुछ आदत पड़ती है, अभ्यास से पड़ती है। अच्छी बुरी आदतें भी अभ्यास से पड़ती हैं। बुरी प्रवृति त्यागने का अभ्यास कीजिये। अच्छी आदतें बनाइये। देखिये फिर आप में और महान में कुछ भी अन्तर नहीं रह जायेगा।

बिना अभ्यास किये विद्या भी विस्मृत हो जाती है अभ्यास से विद्या और बुद्धि बढ़ती है इसलिए अभ्यास से ही सफलता है—

अभ्यासेन क्रिया सर्वा अभ्यासो सकलाः कलाः।
अभ्यासद ध्यान मौनादि किमभ्यास दुष्करम्॥

सब कार्यों की, कलाओं को ध्यान, मान आदि आतमोत्थान के अभ्यास के द्वारा ही सिद्धि होती है। कठिन से कठिन कार्य अभ्यास के द्वारा ही सुगम होता है। आतम विश्वास के साथ अभ्यास जारी रखें सफलता की प्राप्ति निःसन्देह है।

अभ्यास से मनुष्य पूर्णता को प्राप्त होता है।

(अभ्यास से मूर्ख विद्वान बन जाता है। धीरे धीरे पर्वत

भी चूर्ण हो जाता है और कारण भी महालक्ष्य को प्राप्त हो जाता है।)

(अभ्यास के सहयोग से कोमल स्पर्श भी कठोर पर्वतों को क्षय कर देता है। अभ्यास से किस वस्तु की सिद्धि नहीं होती।)

कुछ व्यक्ति अपना ध्येय बनाकर उसकी पूर्ति के बाद अपना शेष जीवन सुख शान्ति से व्यतीत करना चाहते हैं। यदि किसी की अन्तिम इच्छा यही है तो उनको आज भी कौन रो रहा है। वह सब कार्यों को छोड़ कर सुख शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस अपने शिष्यों के साथ टहलते हुए नदी के किनारे जा रहे थे। मछुए मछलियों को पकड़ रहे थे और जाल खींच रहे थे। उन्होंने शिष्यों से कहा कि जाल की गति देखो। कुछ मछलियाँ जाल में वैसे ही पड़ी हैं कुछ ने निकलने का प्रयास किया और न निकल पायीं। कुछ निकल गयीं। स्वामी जी ने शिष्यों से कहा संसार में मनुष्य भी तीन प्रकार के होते हैं एक तो वे जो बन्धन स्वीकार कर लेते हैं वे मुक्ति का प्रयत्न ही नहीं करते। दूसरे वे जो बहादुरों की तरह प्रयास तो करते हैं पर मुक्ति नहीं पाते हैं और तीसरे वे, जो प्रयास द्वारा मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

अन्त में बात समाप्त करते हुए मैं यही कहूँगा कि मनुष्य का सुनहरा भविष्य उसकी मुट्ठी के भीतर बन्द है। भले ही वे अधिक सम्पन्न न हों क्योंकि कहा गया है: –

"करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते, सिल पर होत निसान॥"

: १३ :

झूठी विद्या पर अभिमान

अभिमान मोह का मूल है -- बड़ा शूलप्रद। —रामायण
अभिमान छोड़ने से मनुष्य प्रिय होता है। —महाभारत

मैंने विद्या की सेवा में इसलिए जान नहीं खपाई कि जो मिल जाय उसी का दास बन जाऊँ। —एक कवि

आजकल प्रचलित विद्या ने झूठा अभिमान उत्पन्न करा दिया है। ऐसा लगता है कि विद्या में दम्भ का समावेश हो गया हो। कुछ लोग विदेश जाकर अध्ययन करते हैं वहाँ से लौटकर वहीं की विचारधाराओं का उल्लेख करके नेताओं और पाठकों पर अपनी धाक जमाना चाहते हैं। इस भावना के पीछे अपने मित्रगणों में अधिक सम्मानित व पांडित्यपूर्ण कहलाने की इच्छा कार्य करती है।

ज्ञान के क्षेत्र में पुरातन या नूतन कुछ भी नहीं है। पुरातन विचारों से अपरिचित होने का पर्दा पड़ जाता है। कुछ कालोपरान्त जब उस पर्दे को उघाड़ दिया जाता है तो वह विचार नूतन बन जाता है। इस प्रकार पुरातन ही नवीन रूपों में अवतरित होता है। आज जब हम नये विचारों से परिपूर्ण होते हैं तो अपने देश या दूसरे देश के पुरातन इतिहास को पढ़ते

समय तिरस्कार जैसी दकियानूसी भावना का अनुभव करते हैं। क्योंकि हमारी बुद्धि में जो जम गया सो ठीक मान लेते हैं।

इसी प्रकार जब विद्यार्थी अपने घर जाते हैं तो प्रायः देखा गया है कि वे अपने माता-पिता से अधिक एवं विशिष्ट होने का गर्व करने लगते हैं। उनकी यह प्रवृति उनके भावी जीवन के सर्वांगीण विकास के मार्ग में अवरुद्धता पैदा कर देती है। उस समय विद्यार्थी यह विस्मृत कर देता है कि उसके शिक्षण काल में वे कितना कष्ट उठाते हैं। साथ ही उनके लिये अपनी कितनी सुख-सुविधाओं का त्याग करते हैं। यदि उनसे यह पूछा जाय कि उनकी आजतक की अर्जित विद्या क्या केवल उन्हीं के पुरुषार्थ का फल है ? उनके पीछे न जाने कितने बुजुर्गों का त्याग व योगदान है जिससे उन्हें अपनी प्रतिभा के आकलन का पूरा अवसर प्राप्त हुआ है। उसके प्रति कृतघ्न होना मानवता का तिरस्कार है। जिस दिन यह तथ्य अनुभव करोगे सच्ची मृदुता के रस से भर उठोगे।

शिक्षा प्राप्त करके अपने कुल का मस्तक ऊँचा करो यद्यपि अपनी साक्षरता के कारण अपने पालकों से बड़े हो किन्तु व्यावहारिक व वास्तविक ज्ञान की पूँजी तुम्हारे पास इतनी बड़ी नहीं है कि अपने बुर्जुगों से उसकी तुलना कर सको। विद्या वास्तव में मानव की अनेकानेक सुसुप्त शक्तियों को जागृत करने वाली होती है। साथ ही विद्या श्रेष्ठ संकल्पों के विकास के लिए भी होती है। आपदाओं के बीच में चलते हुए उसमें न डिगने का जो बल है क्या वह शिक्षा का बल नहीं ?

हम यह भी देखते हैं कि दोषायुक्त शिक्षा ने हमारे हृदय को मानवता से दूर कर दिया है। मिथ्या गर्व का यही कारण

है। इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य निजी स्वार्थ को मानव-सेवा से ऊपर मानता है। स्वार्थी बनकर ईश्वरीय विराट सम्पदा को नहीं पहचानता। वह शिक्षित होकर भी सबसे अलग रहना चाहता है। मानव उपासना का रहस्य वह शिक्षित नहीं जानता। जिस मिट्टी में उत्पन्न हुआ है वहाँ की जलवायु अङ्ग-अङ्ग में समाई हुई है। वहाँ की ज्योति आँखों को प्रदीप्त करती है ओर उसी की हम उपेक्षा करते हैं। यही विद्याध्यन का काल वास्तव में जीवन का मूल है। यदि जड़ मजबूत न हुई तो यह हरा-भरा जीवन का पेड़ ढह जायेगा और फिर किसी भी प्रकार से पल्लवित और पुष्पित नहीं हो पावेगा।

स्मरण रखिये। विद्योपार्जन का यह समय पुण्य कमाने का है वैसे तो जीवन भर आपको खर्च करना है। इसलिए जीवन के इन बहुमूल्य क्षणों को चुहुल में व्यर्थ ही न बिताओ। इसी काल में जीवन के महत्व की नींव रखनी है। यह समय बेश-कीमती है, जो कभी अरबो-खरबों रुपया खर्च करने पर भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए सच्चो विद्या प्राप्त करो, जिससे लाभ हो, इस झूठी विद्या पर अभिमान करना मूर्खता है।

: १४ :

पढ़ना और है, गुनना और

महज पुस्तकें पढ़ने का चटखारा लगा कि स्वयं की सारी सार विचार शक्ति कमजोर पड़ जाने का भय है, और यह शक्ति एक बार नष्ट हुई कि अपनी सारी जिन्दगी कौड़ी की कीमत की हो जाती है ।
—विवेकानन्द

शिक्षा का दिन पर दिन प्रचार हो रहा है । स्कूल, कालिज, विश्वविद्यालय, शोधसंस्थान खुल रहे हैं । पढ़ाई की सुविधायें बढ़ती जा रही हैं । बच्चों, बड़ों एवं स्त्रियों, सबके लिए पढ़ाई का प्रबन्ध हो रहा है । ऐसा जान पड़ता है कि विश्व भर के विद्वान अन्धकार मिटाने के लिए मशाल लेकर निकल पड़े हैं और वे कि कुछ ही समय में अशिक्षा और अज्ञान का संसार से नामोनिशान मिटा देंगे ।

लोग राजनीति, समाजशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान की गुत्थियाँ सुलझाने के लिए इन पर वाद विवाद करने में लगे हुए हैं । जो अशिक्षित हैं वे भी इन बातों पर वाद विवाद करने लगे हैं । अपनी और पराई समस्याओं पर चिन्तन करने लगे हैं । कोई भी आन्दोलन जो संसार में अन्धकार को मिटाने के लिए है, वह प्रशंसनीय और अभिनन्दनीय अवश्य होना चाहिए ।

प्रसन्नता दो प्रकार की होती है—पहली सीधी सादी और दूसरी अत्यन्त गूढ़ या मिश्रित। एक पाशविक तथा दूसरी आध्यात्मिक। एक हृदय की तथा दूसरी मस्तिष्क की। एक का आनन्द प्रत्येक व्यक्ति उठा सकता है लेकिन दूसरी का आनन्द वे ही उठा सकते हैं जो पढ़े लिखे हैं। इसलिए प्रत्येक को साक्षर बनाना चाहिए। एक प्रश्न यह उठता है कि क्या पोथियाँ पढ़ने से ही सुधार हो जावेगा और सभी समस्याओं का समाधान निकल आयेगा। शिक्षा का प्रचार होने से अज्ञान का पर्दा फट जायेगा? कदापि नहीं। इस सम्बन्ध में रस्किन ने कहा है "तुम ब्रिटिश म्यूजियम की सारी पुस्तकें पढ़ने के बाद भी अशिक्षित और अपढ़ रह सकते हो किन्तु यदि तुम एक सुन्दर पुस्तक के बीस पृष्ठ भी अक्षरशः और यथार्थ रूप में पढ़ो तो तुम कुछ सीमा तक एक शिक्षित व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठता प्राप्त कर सकते हो।"

ठीक से पढ़ना क्या है? इसका श्रेष्ठतम रूप गुनना है। पढ़ना और है गुनना और है। पढ़े लिखे लोग अधिक हैं और गुने हुए कम। जब कौरव पाँडव एक साथ पढ़ते थे, एक दिन गुरू जी ने परीक्षा लेते हुए सबसे पूछा कि तुम सबने क्या-क्या पढ़ा है? इस पर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि दो वाक्य याद किये हैं। इस पर गुरू जी ने उसे खूब मारा पीटा और कहा कि केवल दो वाक्य? युधिष्ठिर चुप चाप मार सहते रहे। कुछ बोले नहीं। अब दुर्योधन से कुछ बातें पूछी और किसी अपराध पर धमकाना चाहा, तब दुर्योधन गुरू जी की पगड़ी उतारने को तैयार हो गया। युधिष्ठिर ने गुरू जी का सबसे पहला वाक्य "क्रोध मत करो।" गाँठ बाँध लिया था। वही उन्होंने इस समय कह दिया। बाल्यावस्था में भी कौरव पाँडव

आपस में खेलते समय क्रोध करते किन्तु खेल में हार जीत पर युधिष्ठिर कभी क्रोध न करते। इस प्रकार युधिष्ठिर को गुरूजी देखकर कहने लगे यह तो हमारा भी गुरू निकला। गुरू जी बड़े प्रसन्न हुए और युधिष्ठिर को गोद में उठा लिया और उन्हें पीटने की अपनी भूल पर फूट-फूट कर रोने लगे।

हम चाहे जितनी विद्या पढ़ जायें यदि उस पर अमल नहीं है तो सिर्फ नादानी है। पहले का नाम है पढ़ना और दूसरे का नाम है गुनना। लोग पढ़ते है ऊँचा पद पाने के लिए, धन कमाने के लिए, लोगों से प्रशंसा कराने के लिए। रस्किन ने जीवन की व्याख्या करते हुए कहा है—"केवल उसी का जीवन प्रगति की ओर है जिसका हृदय दिन दिन कोमल से कोमल होता जा रहा है। जिसके रक्त की उष्मा बढ़ती जा रही है जिसका मस्तिष्क दिन दिन प्रखर होता जा रहा है और जिसकी आत्मा स्थायी शान्ति की दिशा में प्रवेश करती जा रही है।"

"सा विद्या या विमुक्तये" के अनुसार—

शिक्षा का उद्देश्य मुक्ति है। स्वार्थ बन्धनों से मुक्त मनुष्य प्रेम के व्यापक क्षेत्र में प्रवेश करें। मानव से प्रेम, पशु-पक्षी से प्रेम, पतंगों से प्रेम, पेड़ पौधों से प्रेम, चर अचर से प्रेम, सृष्टि के प्रत्येक प्राणी से प्रेम, सृष्टि कर्ता से प्रेम, जीवन की सार्थकता इसी प्रेम भाव से प्राप्त हो जावेगी। यही वास्तविक रूप से गुनना है। कबीर कहते हैं :—

"पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढै सो पंडित होय ॥"

: १५ :

जीवन को प्रयोगशाला बनाओ पुस्तकालय नहीं !

पुस्तक में अक्षर रहते हैं, इसलिए पुस्तकों की संगति में जीवन सार्थक करने की आशा व्यर्थ है। वचनों की ही मात खाकर भला कौन तृप्त हुआ है ?
— विनोबा

सभ्यता और संस्कृति का विकास योग्य पद ग्राही मनुष्य ने ही किया है इस बात से भला कौन इनकार कर सकता है। किन्तु यह भी सत्य है कि उसने अपना जीवन पुस्तकालय बनाया है, प्रयोगशाला नहीं। यूं कहिये कि जानकारी प्रत्येक विषय की कर रखी है, पर अपने को विवेक कसौटी पर कस कर उसका सही प्रयोग नहीं किया है। चरित्र निर्माण और कर्तव्य परायणता दोनों ही मनुष्य में नहीं देखे जाते। यह बात किसी एक वर्ग विशेष तक ही सीमित नहीं है अपितु सम्पूर्ण समाज में व्याप्त है। इसका मुख्य कारण बुद्धिवादिता और नास्तिकता दोनों का एक साथ होना है। जानकार को प्रयोग में लाने के लिये विश्वास और आस्था की आवश्यकता है।

आज का मानव तो केवल विश्वासहीन, अनिश्चय वादी होकर ईर्ष्या का पोषण कर रहा है। फिर भला विश्वास और

आस्था कहाँ से आ सकती है। यह प्रवृति जनसाधारण में ही नहीं है अपितु उन लोगों में भी व्याप्त हो रही है जिन्हें हम नेता अथवा महान पुरुषों की श्रेणी में रखते हैं। इसीलिए अशान्ति की भावना सर्वत्र व्याप्त हो गई है। मानव ज्ञान प्राप्त करने पर भी उसे काम में नहीं लाता या उसे काम में लाना जानता नहीं।

ऐसा कोई मानव नहीं जो बिना विश्वास किये बुद्धि का का प्रयोग कर सके। आर्थिक ज्ञान एकत्रित करके उद्देश्यहीन वाद-विवाद में बैठकर समय को बरबाद करना कहाँ तक युक्ति संगत है। आप जानते हैं कि बी० ए०, एम० ए० आदि की डिग्रियाँ हासिल करना सरल है परन्तु उनसे प्राप्त विद्या और गुणों का सदुपयोग करना कठिन है। योग किये बिना ज्ञान ऐसा है जैसे किसी गधे के ऊपर बहुमूल्य ग्रन्थ (वेद, पुराण, कुरान, इंजील आदि) लाद देना।

सबसे बड़ा गुरू आपकी अन्तरात्मा ही है। क्योंकि जिस ज्ञान को गुरू अथवा ईश्वर भी नहीं दे सकता उसे वे आप आन्तरात्मा के विवेक से प्राप्त कर सकते हैं। यदि आपको अच्छे बुरे कार्यों का विवेक स्वयं है तो फिर आपको इधर उधर टक्करें मारने की कोई आवश्यकता नहीं है। कहने का सार यह है कि उपलब्ध ज्ञान का प्रयोग करके जीवन सफल बनायें केवल पुस्तकें व पढ़ने मात्र से जीवन सफल नहीं हो सकता। पढ़ने के उपरान्त उसका सफल प्रयोग भी करना चाहिए, तभी पढ़ाई की महत्ता है।

: १६ :

विद्या का सदुपयोग

जो ग्रन्थ तुम्हें सर्वाधिक सोचने के लिए विवश करते हैं, वही तुम्हारे लिए सबसे बड़े सहायक हैं। —क्योडोर पार्कर

जो अपने लिए उपयोगी नहीं वह किसी के लिए उपयोगी नहीं। —डेनिस

किसा प्रकार की शक्ति का जब सदुपयोग होता है तो वह स्तुति योग्य बन जाती है। इसी प्रकार हमारे द्वारा ग्रहण की गई विद्या का सदुपयोग हमारे विचारों का शुद्ध हो जाना ही है। विद्याशक्ति से हमारा और दूसरों का भला होता है। अन्याय अधर्म जनित पाप व अपराधों से मानव जीवन कालिमामय हो जाता है। जिसे विद्या की शक्ति ही सुधार सकती है।

जिस प्रकार अस्त्र-शस्त्रों का उचित और संभालकर उपयोग करने से अपनी रक्षा होती है किन्तु यदि उनके उपयोग में चूक हो जाय तो स्वयं को ही हानि पहुँचती है। विद्वान तो इस संसार में भरे पड़े हैं पर वे विद्या शक्ति का सदुपयोग नहीं करते। यथा वे दीन दुखियों पर दया नहीं करते, बड़ों, गुरू-जनों, ज्ञानियों को यथोचित आदर नहीं देते। अपनी अर्जित

विद्या शक्ति से सुपात्रों को सुकर्मों का उद्देश्य नहीं करते। परिणाम स्वरूप वे अपने कर्त्तव्यों से च्युत हो जाते हैं।

सज्जनों! विचार करो क्या तुम अपनी विद्या का सही उपयोग कर रहे हो? यदि नहीं, तो त्रुटियों को दूर करो। जो कुछ प्राप्त है उस पर सन्तोष करो, और दोषों का त्याग करो। प्रारब्ध अनुसार जो कुछ तुम्हें मिलने वाला है तुमको अवश्य मिलेगा जो कुछ प्रतिकूल हो रहा है उस पर धैर्य धारण करो।

आजकल आपको बड़ी बड़ी डिग्री बी० ए०, एम० ए०, डाक्टरेट आदि धारण करने वाले बहुत मिलेंगे पर उनका सदुपयोग करने वाले कम मिलेंगे। उच्च योग्यता अर्जित कर चुके हो तो विचार करके देखो कि तुम्हारे अन्दर अभिमान बढ़ा है या कुछ कम हुआ है, किसी को धोका तो नहीं देते? झूठी प्रशंसा और चाटुकारिता तो नहीं चाहते या अपने विरुद्ध शब्दों को सुनकर क्रोध से लाल पीले तो नहीं हो जाते? यदि आप उच्च डिग्री धारण पर अभिमान नहीं करते, दूसरों को धोखा नहीं देते, झूठी प्रशंसा और चाटुकारिता नहीं चाहते तो वास्तव में आपकी शिक्षा सार्थक है और उपयोगी है। अन्यथा ऊँची डिग्री रखकर भी आपने अविद्या को परिश्रय दिया है क्योंकि अभिमान, लोभ, द्वेष आदि विकारों का विस्तार अविद्या से ही होता है।

सबसे बड़ा विद्वान तो वह है जो मन को सभी विकारों से रहित करके, सुखों का त्याग करके, दुखों से मुक्त हो गया हो ठीक करछली की भाँति:—

"शास्त्र ज्ञान निष्फल सकल, जो नहीं पूर्ण विवेक।
स्वाद न जानत करछुली, चाखत खाद्य अनेक॥"

आप विचार करें, रावण बड़ा विद्वान और महान् था, केवल अभिमान और और सांसारिक सुखों के लिये उसने अपनी विद्या को केन्द्रित किया और अन्त में उसकी दुर्गति हुई। इसीलिये विद्वानों ! सावधान होकर विद्या के द्वारा दैवी सम्पत्ति के धनी बनो और सबसे अधिक धन के साथ जाकर मिलो अर्थात् परमात्मा की शरण में जाओ तभी उद्धार होगा और विद्या शक्ति का सदुपयोग होगा।

: १७ :

बच्चों को सही शिक्षा दें

शिक्षा से तात्पर्य है मनुष्य और बच्चों के शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा का सुन्दरतम रूप निखारना। —गाँधी

सच्ची शिक्षा का पूर्ण ध्येय यह है कि न केवल सच्चाई को बतायें बल्कि उस पर अमल करायें। —मेरी वेकर ऐडो

शिक्षा का, असूलन, पहला काम यह हो कि वह इच्छा शक्ति को क्रियाशीलता की ओर प्रेरित करें।

—जकारो

आज के बच्चे आने वाले कल के कर्णधार हैं। आप अपने बच्चों के अभिभावक हैं तो आपका सबसे पुनीत कर्तव्य यह होना चाहिए कि बच्चे को सही शिक्षा प्रदान करके देश की और मानवता सेवा के लिए अभिप्रेरित करें। इससे केवल आपके बच्चों को ही लाभ नहीं होगा अपितु वे समाज के अन्य लोगों के लिये आदर्श और प्रेरणादायक भी होंगे। अतः आप केवल अपना कर्तव्य पालन ही नहीं करेंगे वरन् अपने बच्चों को सही शिक्षा प्रदान करके सम्पूर्ण मानव जाति की सेवा करेंगे।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आप बच्चों को शिक्षा देते समय अपना निजी जीवन असत् पूर्वक नहीं व्यतीत कर सकते, अपितु आप भी अपने जीवन को आदर्श बनावें तभी बच्चों पर प्रभाव पड़ेगा। आप अपने परिचितों, पड़ोसियों और सम्ब-न्धियों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करें। उनकी अनुपस्थिति में

उनकी बुराई न करें तो बच्चे स्वयं पहचान लेंगे कि अच्छाई क्या है और बुराई क्या। वास्तव में बच्चों की प्रत्येक क्रिया प्रतिक्रिया बड़ों और परिवार के कार्य कलापों पर आधारित होती है। उसी के परिणाम स्वरूप मन में बुरी या भली धारणा का निर्धारण बच्चों के मन में होता है।

बच्चों को अच्छा बनाने के लिये यह आवश्यक है कि पहले हम स्वयं को सुधारें। अच्छे अच्छे कार्यों से उनके सम्मुख आदर्श प्रस्तुत करें। यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि बच्चे आपके कार्यों से आपकी परख करते हैं और उसी से शिक्षा भी ग्रहण करते हैं। इन विचारों का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर भी बहुत बड़ा असर पड़ता है।

आपके विचार रचनात्मक होने चाहिए ध्वंसात्मक नहीं। साफ मस्तिष्क के साथ जीवन की समस्याओं का समन्वय कीजिए। प्रकृति के नियमों का पालन कीजिये। ढोंगी मत बनिए। वास्तविकता के धरातल पर रहिये।

बच्चों को आदर्श नागरिकता की शिक्षा मुख्य रूप से दें। किताबी ज्ञान की अपेक्षा व्यवहारिक ज्ञान की ओर अधिक जोर दीजिए। क्योंकि जीवन के संघर्षमय क्षणों में केवल किताबी ज्ञान ही काम में नहीं आता अपितु व्यावहारिक और वास्तविक ज्ञान अधिक महत्वपूर्ण होता है। जीवन को निर्मल बनाने पर जोर देने की आवश्यकता है।

अन्त में महत्वपूर्ण बात यह है कि बच्चे को उसकी समझ से कार्य करने की प्रेरणा दें अर्थात् बच्चे का विवेक जागृत होने दें। विश्वास कीजिये इस प्रकार की शिक्षा को ग्रहण किये हुए बच्चे केवल अपने लिये ही नहीं वरन् दूसरों के लिये भी आदर्श होंगे।

: १८ :

निराशा पर विजय

निराशा नर्क की दल-दल है, जिस प्रकार कि प्रसन्नता स्वर्ग की शान्ति है। —डाँने

जो अपने से निराश हो गया उससे कौन आशा बाँधेगा। —सरफिलिप सिडली

जो दूसरों को जीतता है वह मजबूत है, जो स्वयं को जीतता है वह शक्तिमान्। —लाओतजे

सबसे शानदार विजय है अपने घर पर विजय प्राप्त करना और सबसे ज़लील और शर्मनाक बात है अपने से परास्त हो जाना। —प्लेटो

निराशा एक प्रकार का मनोभाव है। मनोभाव वास्तव में सुख-दुःख की मूल अनुभूति और उसके द्वारा विषय भेद से उत्पन्न होते हैं। प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, भय, क्रोध, घृणा, निराशा आदि इसी प्रकार के अनुभूतियों से उत्पन्न मनोभाव या मनोविकार हैं। इसी प्रकार के मनोभाव मानव जीवन के प्रवर्तक माने जाते हैं।

निराशा मनोभाव तभी उत्पन्न होता है, जबकि किसी की आशा पूर्ण नहीं होती, या उस स्थिति और दशा तक पूर्ण नहीं

होती, या उस स्थिति और दशा तक पूर्ण नहीं हो तो, जिस स्थिति और दशा में उसे पूर्ण होने की आशा होती है।

यह विश्व तरह-तरह के मनोभावों वाले मानवों से परिपूर्ण है। कोई कार्य करने के लिए प्रत्येक को किसी न किसी पर विश्वास करना होता है। हाँ, बुद्धिमान लोग विश्वसनीय व्यक्ति को बड़ी सावधानी से चुनते हैं, क्योंकि यदि विश्वसनीय व्यक्ति का चुनाव गलत हो गया तो बाद में पछताना ही पड़ता है और कार्य पूर्ण न होने पर निराशा के तथा पश्चात्ताप के बादल उमड़ने लगते हैं। विश्वास योग्य मानव के अतिरिक्त इसी ढंग से अन्य विषयों तथा वस्तुओं का भी चयन होता है। यथा भूमि खंड का, राजनीतिक दल का, जीवन वृति का, व्यापार का, नौकरी का। एक बार इनका जब चयन कर लिया जाता है और बाद में जब ज्ञात होता है कि चयन गलत हो गया, जो हानिकारक भी सिद्ध हो सकता है, तो चयन करने वाले को बड़ी वेदना होती है और वह शनैः शनैः निराशा के चंगुल में फँसने लगता है। कभी-कभी यह निराशा इतनी भयंकर हो जाती है कि निराश व्यक्ति के पास आत्म-हत्या के अतिरिक्त कोई साधन उससे बचने का नहीं रहता। इसी निराशा के कारण राष्ट्रों में युद्ध तक हो जाता है और हजारों-लाखों व्यक्तियों का संहार हो जाता है।

उपर्युक्त तथ्य से स्पष्ट है कि निराशा एक महाप्रलयकारी रोग है जिसे यह लग गया वह बच नहीं सकता। इस भयंकर रोग को रोकने के लिए कोई न कोई उपाय करना चाहिए। मेरी राय में सर्व सुलभ और सर्व सरल उपाय प्रभु पर विश्वास ही है। वास्तव में जिसका प्रभु में पूर्ण विश्वास होता है, उसी के मस्तिष्क में विजय के प्रति पूर्ण विश्वास होता है। उसके मस्तिष्क में सदा शान्ति और शक्ति बनी रहती है। इसी शक्ति

से वह बड़े से बड़ा धक्का सह सकता है। एक शायर ने इसी ईश्वरीय शक्ति के विषय में कहा है :—

मुसीबत पड़ी तो क्या, मुसीबत कुशा तो है।
सिर पर पड़ी तो क्या, सिर पर खुदा तो है ।।

आज पाश्चात्य विचारधारा के लोग ईश्वर पर विश्वास नहीं करते। लेकिन यह अनुभव की बात है कि जब आज का मानव विशेषतः युवक वर्ग चारों ओर से आपत्तियों में घिर जाता है, विविध प्रकार की मुसीबतों और कष्टों से ग्रसित हो जाता है तो वह ईश्वर को न मानने वाला होते हुए भी ईश्वर की ओर झुकने लगता है। और जब वह पूर्णतः ईश्वरीय शक्ति और भक्ति के आधीन हो जाता है तो ईश्वर उसका किसी न किसी माध्यम से सहायता करता है। यही हमारी प्राचीन धारणा है। विविध व्रतों में, कथाओं में, आख्यायिकाओं में इसी प्रकार के अडिग विश्वास की भावना प्रदर्शित की गई है। यह विश्वास इतना दृढ़ होता है कि यदि भक्त अथवा विश्वासी को किसी कार्य में सफलता नहीं मिलती तो वह उसमें ईश्वर का कोई दोष नहीं समझता, अपितु वह यही सोचता है कि उसकी, स्वयं की, कार्य प्रणाली में कहीं त्रुटि रह गई है अथवा उसके भाग्य का दोष है।

एक बात और है, और वह यह है कि कार्य की असफलता के कारण जब स्वाभाविक रूप से क्रोध, उदासीनता और दुःख की भावनायें आती हैं तो ऐसा मन करने लगता है कि इस कार्य को छोड़ ही दिया जाय, लेकिन ऐसा नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा सोचकर कार्य को छोड़ दिया जाता है तो और अधिक हानि की सम्भावना होती है। उस कार्य को तो ईश्वर पर पुनः विश्वास कर उसी सबलता से करना चाहिए और एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा कि वह कार्य निश्चित रूप से पूरा हो जावेगा।

विश्वास की भावना मानव पर आये हुए विविध संकटों के झेलने में सहायक होती है तथा यही विश्वास कार्य में जुटे रहने के लिए पर्याप्त होती है। मनुष्य जब सत्य का पालन करेगा, प्रभु पर विश्वास करेगा, अपना कार्य ईमानदारी और सच्चाई से करेगा तो निश्चित रूप से उसमें ईश्वरीय शक्तियाँ जाग्रत होकर उसके इस प्रकार के कार्यों में सहायता देंगी और परिणाम यह निकलेगा कि दुर्भाग्य, सौभाग्य में, दुःख, सुख में, और सफलता, असफलता में परिर्वातित हो जायेंगे।

वास्तविकता तो यह है कि जो जैसे बीज बोता है, उसी प्रकार की फसल को काटने का वह अधिकारी होता है। यदि वह क्रोध, असंयम, संशय, अविश्वास के प्रति आस्था रखेगा तो भविष्य में उसे वही बातें हाथ लगेंगी। यदि अच्छे और प्रेम पूर्ण वातावरण में उसका विश्वास होगा तो निश्चित रूप से उसका भविष्य इसी प्रकार की विशेषताओं से परिपूर्ण रहेगा।

उक्त कथन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि यदि सत्य, प्रेम, विश्वास ग्रादि को निष्ठापूर्वक ग्रहण करते रहेंगे तो संसार में कोई भी ऐसा कारण नहीं रह सकता, जो निराशा को जन्म दे सके। निराशा जड़ से ही समाप्त हो जायेगी। मानव पर आई विपत्तियों को ईश्वरीय देन समझकर प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण करने से मन में शान्ति रहती है और निराशा का प्रावल्य समाप्त हो जाता है। जितना अधिक विश्वास ईश्वर में होगा उतना ही अधिक सम्बन्ध ईश्वर से जुड़ जायेगा। और जितना अधिक सम्बन्ध ईश्वर से स्थापित होगा उतना ही अधिक सुख और शान्ति का अनुभव कर पावेंगे, और निराशा का अन्त होगा। निराशा पर विजय प्राप्ति के लिए "ईश्वर में विश्वास" रखना ही सर्वश्रेष्ठ औषधि है। ***

: १९ :

ईर्ष्या का भूत

वह फूल जो अकेला है उसे उन काँटों पर रश्क करने की क्या आवश्यकता है जो संख्या में अनगिनित हैं। —टैगोर

ईर्ष्या करने वाले को ईर्ष्या की भावना ही काफी है। क्योंकि उसके दुश्मन उसे छोड़ भी दें तो भी उसकी ईर्ष्या ही उसका सर्वनाश कर देती है। —तिरुवल्लूवर

जोशे हमदर्दी नहीं जिसमें, वह इन्सान नहीं।
जाहिरा सूरते आदम है, मगर जान नहीं॥

जिसके हृदय में हमदर्दी नहीं, सहानुभूति नहीं, वह मनुष्यों जैसी आकृति का तो है पर निर्जीव है। वह एक प्रकार का भूत है जो नाना प्रकार से दूसरों को कष्ट पहुँचाता रहता है।

सहानुभूति का अर्थ है :—दूसरे के दृष्टिकोण और उसकी परिस्थिति को समझना। दूसरों के दुख में वैसे ही कष्ट का अनुभव करना जैसे कि कष्ट भोगने वाले को होता है। ईर्ष्या करने वाला किसी व्यक्ति का लाभ होते देखकर प्रसन्न नहीं होता। दूसरे के कष्टों को देखकर उसे प्रसन्नता होती है। ईर्ष्या का दूसरा नाम मत्सर है। इसकी बड़ी विशेषता यही है कि जरा-सी ढील मिलते ही वह मनुष्य के मस्तिष्क को अपने अधिकार में कर लेती है।

घृणा कोई भी नहीं करता। कान्टन के अनुसार हजार में एक

स्टुअर्ट विल ने कहा है कि सभी भावावेगों से अधिक घृणास्पद और समाज विरोधी भाव ईर्ष्या ही है। यदि मनुष्य ईर्ष्या के स्थान पर सहानुभूति को अपना ले तो वह इससे छुटकारा पा सकता है। सहानुभूति पूरित हृदय और सहानुभूति शून्य हृदयधारी मनुष्यों में स्वभावतः संघर्ष चलता है। जिसमें सहानुभूति नहीं होती उसका दृष्टिकोण स्वभावतः संकीर्ण हो जाता है। वह स्वार्थपरता से घिरा रहता है और हर समय वह स्वार्थ में अंधा होकर द्वेष से भरा रहता है। द्वेष और वैमनस्य रखने वाले के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह दुख पहुँचा कर ही अपने बैर-भाव को प्रकट कर दे, अपितु वह तो अपने मन से उसका अनिष्ट भी करना चाहता है।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर एक स्थान पर लिखते हैं, "तुम्हारी निन्दा वही करेगा जिसकी तुमने भलाई की हो।' ईर्ष्या करने वाला दूसरे के उपकारों को ध्यान न देकर अपकारों का ध्यान रखता है। ईर्ष्या करने वाले पर सब कुछ हो और दूसरों के पास उससे कम हो तो भी उसे अपनी स्थिति पर सन्तोष नहीं होता। होता यह है कि वह अपने को नितान्त दुःखी समझ बैठता है, उसको अपनी वस्तु से कुछ आनन्द नहीं मिलता, उसे पड़ौसी का सड़ा मुर्गा भी राजहंस-सा दिखाई देता है। वह अपने पास उसी का अभाव समझने लगता है। इस कारण मन में अकारण ही दुःख उत्पन्न कर लेता है। ईर्ष्यालु मनुष्य अपनी ही कल्पना से भाव का चिन्तन करता हुआ उन्नति के लिए निराश हो जाता है, अतः दूसरों को हानि पहुँचाता है। वह घृणा करके ही अपने अहं को तुष्ट करता है। आज के युग में जो लोग दुःखी हैं वे अधिकतर घृणा के कारण ही हैं। कोई मनुष्य कितना ही अच्छा हो, यह नहीं कह सकता कि उससे

व्यक्ति भी नहीं होगा जो हमारी विपत्ति पर सच्चे मन से तरस खाए। सच तो यह है कि अधिकाँश लोग सच्चे मन से हमारी उपलब्धियों से ईर्ष्या करेंगे। एक ब्रिटिश विद्वान कहते हैं, "ईर्ष्या या डाह का कारण, उन व्यक्तियों में सदैव विद्यमान रहता है जिन व्यक्तियों को सफलता मिलती है।" एक और विद्वान का कथन है, "ईर्ष्या वह मानसिक व्यथा है जो सफल व्यक्ति अपने पड़ौसियों को पहुँचाते हैं।" सैनेका लिखते हैं, "समूह की आदत है कि वह सफल और सुप्रसिद्ध व्यक्तियों पर भौंकते हैं, जिस प्रकार कुत्ते अपरिचितों पर भौंकते हैं। जिस पर जितना अधिक वैभव होगा उतना ही उसके लिए डाह भड़केगी। परन्तु कुछ भाग्यशाली ईर्ष्या को सह जाते हैं।

सचमुच, ईर्ष्या करने वालों से कितने ही व्यक्तियों ने वैभव पाया है। द्वेष करके जिस व्यक्ति के पतन की चाह करेगा वह व्यक्ति उतना ही ऊँचा उठ जायेगा और ईर्ष्या करने वाले को उतनी ही निराशा भुगतनी पड़ेगी। निन्दक पर निन्दा करके दूसरे को गिराकर गौरव पूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहता है। पर जब ईर्ष्या और आलस्य दोनों एक सूत्र से बँधकर निन्दक के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं तो ईर्ष्या के पात्र में उत्सुकता आ जाती है और उस व्यक्ति की क्षमता सो जाती है क्योंकि उसका कार्य सफलता प्राप्त करने वाले व्यक्ति के दोषों का छिद्रान्वेषण करना मात्र है।

ईर्ष्या प्रेम की बहिन है। ठीक उसी प्रकार जैसे शैतान देवदूतों का भाई है। अतः ईर्ष्या प्रेम को नष्ट कर देती है जैसे कोई कीड़ा बढ़िया कपड़े को लग कर उसे नष्ट कर देता है। पर निन्दक को जो समय अपने निर्माण और उन्नति में लगना चाहिए उसे वह ईर्ष्या करने में नष्ट कर देता है।

मूढ़ यह नहीं जानता कि किसी का अनिष्ट सोचकर अपनी प्रभुता नहीं निर्मित की जा सकती।

अर्नेस्ट बाइल्ड का मत विचारणीय है, "शत्रुओं को सदा क्षमा करते रहो। वे इससे और भी अधिक चिड़ेंगे।" पर यदि इस प्रकार की मीठी मार पर विश्वास न करें तो फिर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की बात ध्यान दें, "साधु से साधु प्रकृत वाले को क्रूर, दुर्जन और क्रोधियों से क्लेश पहुँचता है। अतः उनके प्रयत्नों को विफल करने का भय संचार द्वारा रोकने की आवश्यकता से बच नहीं सकते।"

जिनके स्वभाव में ईर्ष्या होती है उनमें काँपने वाली हीनता ही तो दूसरों की श्रेष्ठता स्वीकार कराती है। परमपिता ने सभी को समान शक्ति दी है। परन्तु जिससे आप विकास देखते हैं उस कार्य में धैर्य और लगन की आवश्यकता होती है। "निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छनाय" के अनुसार जब हम अपने बैरियों का स्वभाव ठीक कर सकते हैं तो क्यों न अपने उच्च चरित्र का निर्माण करें और दोषों को दूर करने में अपनी शक्ति लगायें। ईर्ष्या का कहीं अन्त नहीं है और संसार में एक से एक बड़े हैं। किस-किस के प्रति ईर्ष्या की जा सकती है। समुचित उद्योग के बाद जो प्राप्त हो, उसमें ही सन्तोष करें यही सच्चा बड़प्पन है।

: २० :

घृणा से क्या होता है ?

सत्य परायण मनुष्य किसी से भी घृणा नहीं करता ।

–नैपोलियन

घृणा या बदला लेने की इच्छा से ही मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं ।

–अज्ञात

मनोविज्ञान की आधुनिक खोजों से ज्ञात हुआ है कि यदि हम किसी व्यक्ति विशेष अथवा किसी वस्तु विशेष से घृणा करते हैं तो उसका कारण हमारे अन्दर ही है, किसी वाह्य वस्तु के कारण घृणा नहीं होती ।

प्रायः देखा गया है कि जो व्यक्ति जिस प्रकार के व्यक्तियों से घृणा करता है कुछ कालोपरान्त वह उन्हीं घृणित गुणों को अपना लेता है । हम जिस किसी प्रवृति से घृणा करते हैं वह अप्रत्यक्ष रूप में हमारे अन्दर भी होती है और बाद में प्रत्यक्ष रूप से इन प्रवृतियों को हम स्वयं अपना लेते हैं ।

अत्यधिक आलोचना की प्रवृति स्वयं ही हीनता की द्योतक है । यह वास्तव में एक प्रकार से अपने आन्तरिक गुणों अथवा अवगुणों को प्रकट करने का यह विशेष मार्ग है । घृणा की

मनोवृति किसी विशेष रूप से मस्तिष्क में बैठ जाती है जो उत्तेजित होने पर कभी-कभी वाह्य रूप धारण कर लेती है। जितना हम उसे विस्मृत करना चाहते हैं उतने ही घृणा के विचार दृढ़ होते जाते हैं और धीरे-धीरे मनोवृति में परिवर्तित होते जाते हैं। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट चित्र को देखता है, उसे देख कर उसके मस्तिष्क में एक विशेष प्रकार की विचारधारा धँस जाती है जो रोकने पर भी रोकी नहीं जा सकती। परिणाम यह होता है कि इस प्रकार का एक ही विचार बहुत दिनों तक चलने के पश्चात् व्यक्ति के मस्तिष्क पर हाबी हो जाता है।

यदि हम ऐसे व्यक्ति को देखें जिसे देखते ही हमारे मन में घृणा के भाव उत्पन्न होते हैं तो तुरन्त ही उसके विषय में हम घृणा को स्थायी रूप में न ग्रहण कर लें अपितु उसके लिए सहानुभूति के भाव हृदय में लावें।

हमें बहुत से शारीरिक व मानसिक रोग हो जाते हैं, क्योंकि हम उनसे घृणा करते हैं या उनसे डरते हैं। यदि आप एक कुरूप व्यक्ति को घृणा के भाव से देखें तो अनुभव बताते हैं कि आपके कार्यों में तथा मस्तिष्क में एक लम्बे समय तक कुरूपता छाई रहेगी जो बड़ी कठिनाई से दूर होगी।

यदि हम दूसरे के अवगुणों को सहानुभूति और सुधार के भाव से देखें तब हमारे मन-मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा। असल में होता यह है कि बार-बार किसी दुर्गुण को सोचने से हमारे विचार संवेगात्मक विचार का रूप धारण कर लेते हैं। इसीलिए हमारे महर्षियों ने अपराधियों को क्षमा करने

का उपदेश दिया है। आप देखेंगे कि इस प्रकार घृणा की भावना सहानुभूति में बदल जायगी।

वास्तव में घृणा की मनोवृति हमारे मन की ही ग्रन्थि है। इस ग्रन्थि को सोच-विचार कर सुलझाने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार से घृणा की मनोवृति स्वयं ही दूर हो जायेगी। हम अपनी बुराइयों को साधारणतः स्वीकार नहीं करना चाहते पर आध्यात्मिक नियम के अनुसार एक न एक दिन बाध्य होना पड़ता है कि अपनी बुराइयों को मानें। दूसरों के दुर्गुणों की चर्चा करने से वे दुर्गण स्वयं भी आ जाते हैं। इसीलिए शास्त्र और पुराणों में केवल गुण चर्चा के लिए ही कहा गया है।

अब श्रद्धा को लीजिये। श्रद्धा की भावना अपने ही में रहती है और हम उसी प्रकार के गुणों को दूसरे में खोजने को तत्पर रहते हैं। उदारचित्त पुरुष के विचार सदैव उदार ही रहते हैं जब तक कि कोई विशिष्ट प्रभाव ही न पड़े। इस प्रकार के मनुष्य सदा दूसरों की भलाई के विचारों पर दृष्टि रखते हैं उनकी दृष्टि बुराइयों पर जल्दी नहीं पड़ती।

हमारे मन पर दूसरों के विचारों का बहुत प्रभाव पड़ता है, हम जैसा उनके बारे में सोचते हैं वैसा ही हमारा चरित्र बनता जाता है। हमारे आस-पास के व्यक्ति हमसे मृदु भाव रखते हैं, तो यह स्वाभाविक ही है कि हमारे आचरण में मृदुता आ जाती है। यदि हम किसी के दुर्गुणों अथवा सद्गुणों पर विचार करते हैं तब ये दुर्गुण अथवा सद्गुण हमारे विचारों के निर्देशक बन जाते हैं। परिणामस्वरूप वही गुण या बुराइयां हममें आ जाती हैं।

इस प्रकार घृणा की भावना दोनों ओर से घातक होती है। एक ओर वह घृणा करने वाले व्यक्ति के मन और विचारों का क्षय करती है और दूसरी ओर घृणित व्यक्तियों में उन बुराइयों को और भी दृढ़ कर देती है। यदि हमारी घृणा की प्रवृति काल्पनिक हुई तो भी कुछ समय के बाद कुछ बुराइयाँ उस व्यक्ति में आ ही जायेंगी। इसलिये घृणा की काल्पनिक प्रवृति की भावना भी अपने मन में 'न' आने दी जाय तभी हम इस घृणित मनोभाव से बच सकते हैं।

: २१ :

विश्वास

सारी विद्वतापूर्ण चुना-चुनो एक 'विश्वास' शब्द के आगे खंडहर हो जाती है।
—नेपोलियन

अपने निर्वाह के लिए जो चिन्ता अथवा प्रपंच नहीं करता वही सच्चा विश्वासी है।
—जुन्नेद

दूसरे को मारने के लिए ढालों और तलवारों की जरूरत होती है लेकिन स्वयं को मारने के लिए एक पिन ही काफी है। इसीतरह दूसरे को सिखाने के लिए बहुत से शास्त्रों और विद्वानों के अध्ययन की आवश्यकता होती है, किन्तु आत्म प्रकाश के लिए एक ही सिद्धान्त सूत्र में दृढ़ विश्वास का होना काफी है।
—रामकृष्ण परमहंस

कहीं भी नजर उठाकर देख लीजिए दो व्यक्ति एक ही रूप के और स्वभाव के नहीं मिलेंगे। परिवार में भाई-भाई के स्वभावों का न मिलना इसका उदाहरण है। यदि एक उदार है, मिलनसार है, भला है तो दूसरा दम्भ युक्त, क्रोधी, असहिष्णु तथा स्वार्थी हो सकता है। यदि हम प्रतिदिन की जिन्दगी में व्यक्तियों से मिलते समय यह बात याद रखें कि दो व्यक्ति एक प्रकार के नहीं होते तो हम बहुत से अन्तर्द्वन्दों से मुक्त रह सकते हैं।

जितने व्यक्ति संसार मे हैं सभी का चिन्तन करने का तौर-तरीका भिन्न होता है। कमी सभी में होती है पूर्णता कहीं नहीं मिलती है।

दूसरों के प्रति सहृदय होने का अर्थ है स्वयं धीरज रखना, ऐसा शास्त्रों का कथन है।

दुनिया में अविश्वास, स्वार्थ, घृणा, नासमझी आदि फैली दिखायी दे सकती हैं। पर इसी संसार को अच्छा बनाने के लिए सहयोग सहिष्णुता, उदारता आदि की भावना लोगों में जगाने की आवश्यकता है।

जो लोग झूठी आशायें प्राप्त करके निष्क्रिय बन जाते हैं वे सफलता प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

सच्चा आशावादी यह विश्वास करता है कि संसार की सर्वोच्च शक्ति संसार को सुन्दर बना सकती है और मनुष्य में उस शक्ति से सहयोग करने की सामर्थ्य है।

विश्वास में ही प्रसन्नता, लाभ और संतोष निहित है। यह विश्वास भले ही मनुष्य का मनुष्य के प्रति हो या मनुष्य का ईश्वर के प्रति।

: २२ :

मानव की दुर्बलता

मनुष्यता बड़ा है परन्तु मनुष्य छोटा है—

—बोर्न

जिस मनुष्य को मनुष्यत्व का मान है, वह ईश्वर के सिवा किसी और से नहीं डरता।

—महात्मा गाँधी

मानव की सबसे बड़ी मानसिक दुर्बलता यह है कि वह अपनी प्रशंसा सुन कर और परनिन्दा सुन कर प्रसन्न होता है। यह आदत बढ़ जाने पर उसे एक प्रकार का रस आने लगता है। इस अवस्था को प्राप्त करके मनुष्य अपनी प्रशंसा अपने आप करने लगता है और दूसरों की निन्दा करने लगता है और स्वयं को सर्वगुण सम्पन्न समझने लगता है।

संसार में गुण और दोष भरे पड़े हैं। पर जिसकी वृत्ति दोष की हो जाती है वह अपने कर्त्तव्य और कार्य की उपेक्षा करके दूसरों के दोषों के छिद्रान्वेषण में लग जाता है। दोष की छान-बीन के बाद बचा समय निन्दा करने में लगा देते हैं। फिर निन्दक को दूसरों के गुण भी दोष ही दिखायी देने लगते हैं। इस स्थिति को असूया कहते हैं।

निन्दक अपने सच्चे दोषों को भी नहीं सुनना चाहता है। उसका निन्दा करने वाले से द्वेष हो जाता है और लड़ाई-झगड़े तो आम बात हो जाती है। निन्दा से बन्धु-बान्धव तथा मित्रों में आपस में बैर हो जाता है और परस्पर विरोधी दल बन जाते हैं जिसका परिणाम हिंसा तक पहुँच जाता है। जो जीवन, मन वचन से सबको सुख पहुँचा कर भगवत-भक्ति में लग सकता है, उस दुर्लभ मानव जीवन को पर दोष दर्शन, पर निन्दा और अपनी मिथ्या प्रशंसा में लगा कर अपने ही नहीं अपितु औरों को भी नरक का भागी बना देता है इस प्रमाद से मनुष्य को बचना चाहिए। जहाँतक सम्भव हो दूसरों को भी बचाना चाहिए।

मनुष्य का कर्त्तव्य है कि उसे दूसरों के गुण-दोषों का छिद्रान्वेषण नहीं करना चाहिए, उन्हें न देखना चाहिए और न ही उन्हें सुनना चाहिए। यदि सच्ची सन्तुष्टि प्राप्त करनी है तो दूसरों के गुण देखकर उनकी यथावत प्रशंसा करें। मानव में इतना नैतिक साहस होना चाहिए कि अपने अवगुणों की आलोचना स्वयं कर सके।

: २३ :

मनुष्यता के गुण

मनुष्य होकर भी मनुष्यता का ज्ञान होना कठिन है। धनोपार्जन करके अधिक सम्पत्ति एकत्र कर सुखी होकर प्रसन्नता पूर्वक जीवन व्यतीत करके अथवा अनेक शास्त्र पढ़ कर, उच्च विद्वान बन कर कोई सच्चा मनुष्य होने का दावा नहीं कर सकता। मनुष्यता का लक्षण धनवान या विद्वान होना ही नहीं है। मान लीजिये यदि ऐसा ही होता तो बड़े विद्वान व धनवान होकर भी पशु क्यों कहलाते ? प्रायः इस प्रकार के शब्द सुनने में आते, "अमुक के धनवान होकर या पढ़े-लिखे होने से क्या हुआ।" अब आप इससे ही समझ लें कि धनवान या विद्वान होना मनुष्यता से नाम मात्र को भी सम्बन्धित नहीं है।

मनुष्यता और ही पदार्थ है आत्मा से इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। आत्मिक बल से ही मनुष्यता प्राप्त होती है। चित्त और इन्द्रियों को वश में करना ही आत्म संयम है। परोपकार के लिये सुख-दुःख की परवाह न करना आत्म विसर्जन है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि मनुष्य के पंचेन्द्रियों का निग्रह तथा इन शत्रुओं के दबाने को आत्म संयम कहते हैं। ज्ञान इन्द्रियों में सबसे प्रबल जिह्वा है और कर्मेन्द्रियों में सबसे

प्रबल उपस्य है। इसलिए इन पर कठोर शासन करके संयम बरतना परमावश्यक है। इन इन्द्रियों (शत्रुओं) पर शासन करने से दूसरी इन्द्रियों को वश में करना सहज हो जाता है। जिस समय मन में क्रोध न हो और किसी के प्रति दुर्व्यवहार की दुवृति भी न हो उस समय कभी-कभी सरल प्रश्न का उत्तर कठोर और हृदय विदीर्ण ढंग से कह डालते हैं। यदि इस प्रकार कठोर बातें बोलने का अभिप्राय दूसरे को सताना न हो तो दूसरे का मन दुख जाता है। कारण स्पष्ट है कि आपकी जिह्वा पर अभ्यास और सन्तुलन की कमी है इसलिए जीभ को रोकना अत्यन्त कठिन कार्य है। जब तक आप इन अभ्यासों को बार-बार रोकने में समर्थ न होंगे तब तक उन्नति करना असम्भव सा होगा।

बहुत से विद्यार्थी दुष्परिणाम देने वाली आदतों को जान कर भी नहीं छोड़ते। इसका एकमात्र कारण है बहुत दिनों का अभ्यास। यदि आपने ऐसे दूषित अभ्यासों को अपनी दिनचर्या से निकालकर अच्छी आदतों में क्रमशः परिवर्तित कर दिया तो आपने वीरत्व धारण कर लिया और इन शरीर के महान शत्रुओं को जीत लिया बस तभी आपको सम्पूर्णता प्राप्त होगी। जिससे आप सर्व प्रिय होंगे और गौरव के पद को प्राप्त कर लेंगे।

यदि किसी विषय पर विवाद चल रहा है और आपको मध्यस्थ भी बनाया है और फिर भी आप अपना मत देने लगें तो यह आदत भी बुरी है। जब आप कक्षा में बैठे हों अध्यापक किसी गम्भीर विषय पर व्याख्यान दे रहा हो पर आपका मन सिनेमा के दृश्यों या किसी अन्य आमोद के विषय में विचार कर रहा हो तो यह उचित ही होगा कि उस समय उन वृत्तियों

की ओर से अपने चित्त को हटाकर जिस विषय पर अध्यापक पढ़ा रहे हैं उसी ओर अपना ध्यान केन्द्रित करें। इसी प्रकार मादिक इन्द्रियों को दबाने की चेष्टा करते रहना चाहिए। चित्त को वश में धर लिया तो सच्ची मनुष्यता प्राप्त कर ली। मनुष्य का प्रधान स्थल हृदय है और आचार व्यवहार से ही उस हृदय का परिचय मिलता है। अच्छे व्यवहार से ही मनुष्य और बुरे व्यवहार से ही शत्रु तुल्य गिने जाते हैं। यदि आप उदार, परोपकारी, विनयी, शिष्ट आचार वाले, काम और कर्तव्य परायण हों तो आपको सभी लोग मनुष्य कहेंगे तब आप अपने आप ही समझ जायेंगे कि मनुष्य किसे कहते हैं?

: २४ :

प्रशंसा का उपहार

वह मुझे सुन्दर उपहार देता है जो मुझे अपूर्व विचार सुनाता है। —ब्रूवो

चापलूसी करना बहुत से लोग जानते हैं, बहुत कम लोग जानते हैं कि प्रशंसा कैसे की जाती है? —वेन्डेल फिलिप्स

प्रशंसा आदमी के मन को इतनी प्यारी लगती है कि वह उसके लगभग तमाम कार्यों की मूल प्रेरणा बनी हुई है। —जौनसन

प्रशंसा उत्कृष्ट मनस्वियों का प्रोत्साहन होता है, दुर्बल व्यक्तियों का ध्येय। —कान्टन

एक समय की बात है किसी व्यक्ति ने अपने घर खाने पर एक सज्जन को आमन्त्रित किया। भोजन करने बैठे तो उस व्यक्ति ने अपनी स्त्री से कहा कि सब्जियों में नमक इतना अधिक कर दिया कि भोजन का स्वाद ही बिगड़ गया। उस स्त्री का प्रफुल्लित चेहरा उतर गया और वह हतोत्साहित हो गयी। उल्लासमय वातावरण में ऐसा लगा कि भोजन करते करते दाँतों के बीच कंकड़ आ गया हो।

अक्सर अनेक परिवारों में छोटी-छोटी बातों पर जीवन की मधुर घड़ियों में कटुता और विषाद के बीज बो दिये जाते हैं और जीवन का सम्पूर्ण आकर्षण एक झटके में बिखर जाता है। जहाँ लोग अपनी त्रुटि न देखकर दूसरों की त्रुटियाँ खोजकर उन्हें दिखलाने का प्रयास करते हैं शनैः-शनै उनके एक विशेष व्यक्तित्व का ह्रास होता जाता है। परिवार तथा मित्र मंडली में असन्तोष, कुढ़न और वैमनस्य हो जाता है। जीवन में सुख, चैन, शान्ति का अभाव हो जाता है।

यदि आप चाहते हैं कि दूसरे आपकी भावनाओं का आदर करें, आपके व्यक्तित्व का सम्मान करें, आपके गुणों की प्रशंसा करें तो आवश्यक है कि आप दूसरे के अवगुणों का विश्लेषण न करके, उसके गुणों की ही परख करें, उसकी सुरुचि व सुगढ़ व्यवहार की प्रशंसा करें। प्रशंसा का उपहार ऐसा अनमोल रत्न है जो प्रेम के अतुल वैभव को अपने अन्दर समाकर चमकाता है। इससे बढ़कर और क्या हो सकता है कि आप दूसरों के आकर्षण का केन्द्र बनें। इस प्रकार दूसरे भी आपकी प्रशंसा करेंगे और अपनी प्रसन्नता की अमूल्य निधि में आप को भी भागीदार बनायेंगे, जो आपके मनोमस्तिष्क के विकास के लिये और जीवन की सफलता के लिये उपयोगी होगा।

दैनिक जीवन में प्रशंसा का उपहार देने की आदत बना लीजिये। स्वयं प्रसन्न होइये व दूसरों को भी प्रसन्न कीजिये। एक छोटा बच्चा कागज पर पेंसिल से उल्टी-सीधी रेखायें खींच रहा है, आप उसे डाँट देंगे तो उसकी बुद्धि का विकास रुक जायगा। इसके विपरीत आप उसकी प्रशंसा करके उसे यदि प्रोत्साहन प्रदान करेंगे तो बच्चा भविष्य में यत्नपूर्वक उसे और

भी अच्छा बनाने का प्रयास करेगा। आपकी प्रशंसा ने बच्चे की रचनात्मक प्रवृति को उत्साह से भर दिया।

प्रशंसा सदैव उचित की ही हो। अनुचित का विरोध भी सदैव सुन्दर ढंग से हो। सत्य का रूप कभी कठोर न बनाइये। आलोचना मीठे शब्दों में हो तो बुराई न होकर सुझाव के तौर पर हो। दूसरों की कमियों पर बार-बार ध्यान देने से अपनी ही मानसिक अवस्था कमजोर होती है। ऐसा करने पर प्रशंसा के पात्र तो हो ही नहीं सकते हाँ, दूसरों की घृणा के पात्र अवश्य बन सकते हैं।

दूसरों की कमजोरियाँ दूर करने का एक यही तरीका है कि उन पर प्रभाव डालने का ढंग सुरुचिपूर्ण तथा मैत्रीभाव लिये हुये हो। दूसरों की रुचियों और अरुचियों को मीठे ढंग से स्वीकार करें। अपने को ऐसे साँचे में ढालकर देखिये। थोड़े ही समय में आपका व्यक्तित्व संवर जायेगा। अतः आप दूसरों की प्रशंसा करके अपनी प्रशंसा का मार्ग विकसित कीजिये। यही प्रशंसा का वास्तविक उपहार है।

: २५ :

मीठी वाणी बोलिये

जो ऐसी वाणी बोलता है जो सबको आह्लादित कर दे, उसके पास दुःखों को बढ़ाने वाली दरिद्रता कभी न आयेगी।

—तिरुवल्लुवर

वाणी मन की परिचायिका है। —सैनेका

वाणी से निकले हुए एक असंयत शब्द को एक रथ और चार घोड़े भी वापिस नहीं ला सकते। —चीनी कहावत

अन्याय के प्रति सतर्क रहकर सर्वत्र मधरता बिखेरते रहिये।

मधुर भाषण करने वाले की जिह्वा पर साक्षात सरस्वती तथा सिद्धियाँ निवास करती हैं। शुद्ध अन्तःकरण से जैसा शुभ निश्चय हो वैसा प्रतिदिन के व्यवहार, दैनिक वार्तालाप तथा आचरण में लाना चाहिए। यही मानव के सभ्य सुसंस्कृत होने का लक्षण है। मधुर वाणी का खरे रुपये की तरह सर्वत्र स्वागत होता है। माधुर्य सार्वजनिक जीवन का रस है। पर केवल वाक्यों की वाह्य मधुरता ही अपेक्षित नहीं है, उसके साथ हित भावना भी अवश्य होनी चाहिए। अहितकर मधुर शब्द तो ठगों की सम्पत्ति है।

क्रोध मनुष्य की निर्बलता का द्योतक है। क्रोधी क्रोध के आवेश में आकर उचित-अनुचित और सत्य-असत्य का विवेक खो बैठता है।

जो मनुष्य लोक-परलोक दोनों में सुख चाहता है, उसे चाहिए जितेन्द्रिय होकर लोभ, क्रोध, मत्सर और द्वेष इत्यादि सभी विकारों को रोके।

आत्मा और शरीर का भी नाश करने वाले नर्क के तीन द्वार हैं—काम, क्रोध और लोभ। अतः इनसे मनुष्य को बचना चाहिए। भाषा पर विशेष ध्यान रखना चाहिये कि कहीं बात अनुचित होते हुए भी कटु प्रतीत न हो। मधुर शब्दों और कला चातुर्य के प्रयोग से दूसरा व्यक्ति आपकी कठोर बात भी सहन कर सकता है। किसी ने ठीक ही कहा है :

"वशीकरण एक मंत्र है, तज दे वचन कठोर"

प्राचीन ऋषि-मुनियों ने भी हमको प्रिय शब्दावली का प्रयोग करने की सलाह दी है। संसार में आकर मनुष्यों से मीठा वचन बोलो। मधुर भाषियों के साथ रहो। जो मधुरता को अपनाते हैं उनके लिए सभी अपने बन जाते हैं।

प्राचीन तत्व ज्ञानियों ने जिस ओर विशेष संकेत किया है वह यह है कि हम किसी से भी कर्कश व्यवहार न करें। कोई अप्रिय बात भी कहनी हो तो यथा सम्भव मधुर शब्दों का प्रयोग करें। शब्दावली का माधुर्य देवत्व का प्रतीक है। थोड़ा बोलिये पर सत्य बोलिये। ऐसा बोलिये जो लोगों के मर्म में प्रविष्ट हो और स्थायी प्रभाव छोड़ सके। पर इतना नैतिक

बल भी रखिए कि अनुचित, असत्य और उद्दण्ड के प्रति आप विरोध का प्रदर्शन कर सकें।

मधुर वाणी का प्रभाव सर्वत्र दर्शित होता है। तभी तो कहा गया है :

कागा काको धन हरे, कोयल काको देय।
मीठे वचन सुनाय के, जग बस में करि लेय।।

धन-धान्य, मित्र, बन्धन, जीवन-मरण सभी कुछ वाणी पर आधारित है। वाणी से ही मनुष्य सम्मान तथा अपमान, विजय तथा पराजय, मित्रता और शत्रुता, सुख और दुख प्राप्त कर सकता है।

वैदिक शास्त्र की दृष्टि से मनुष्य के रोगों का मूल भी वाणी ही है। जैसा बोलना उचित और शास्त्रोक्त होता है वैसे बोलने को सम्पर्क योग कहते हैं और जो वचन शास्त्र के विरुद्ध हो ऐसे बोलने को आयोग (अल्पयोग, अतियोग) अथवा मिथ्या योग की ही वाणी का असम्पर्क योग भी कहते हैं। जो सम्पर्क योग बनाता है वह निरोग रहता है और जो असम्पर्क योग बनाता है वह रोगी बनता है।

सबको मधुर, सत्य अपने और दूसरों के लिए हितकर, दूसरे को दुख न देने वाली कलहमुक्त वाणी बोलना, कुछ ऐसे गुण हैं जिन पर चलने का अभ्यास करके हम अपने अन्दर आत्म-विश्वास महसूस कर सकते हैं और शीघ्र ही अपने परिचितों के मध्य सहज ही प्रशंसा के पात्र बन सकते हैं। यहाँ तक कहा जाता है कि मीठी वाणी से तो पशु-पक्षी भी वश में हो जाते हैं।

सर्वदा प्रिय बोलें, सत्य बोलें। जो सत्य भी अप्रिय लगे वह न बोलें। प्रिय किन्तु असत्य बात भी न बोलें, यही सनातनधर्म है। यही वाणी का उत्तमोत्तम योग है। जो अपनी आत्मा के अनुगत रहता है वह बहुत से कष्टों से बचकर निरोग एवं यशस्वी रहता है। अपनी आत्मा को धोखा देकर मनुष्य रोग-युक्त व दुःखी हो जाता है।

शस्त्रों के घाव भर जाते हैं किन्तु वाणी बड़े-बड़े विनाश-कारी संग्रामों में परिणत हो जाती है जिसके घाव कभी नहीं भरते। कटु वचन से क्रोध और बैर में वृद्धि होती है। क्रोध की शान्ति क्षमा से ही होती है। किसी ने कोई भले ही धोखा आदि दिया हो किन्तु ऐसे लोगों से बोलते समय वाणी का संयम रख कर, मधुर हितकर वचन बोलना कल्याणकारी है। इसी मधुर वाणी से शत्रु पर जादू का सा प्रभाव होता है।

: २६ :

स्वभाव की कोमलता

प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने स्वभाव को देखकर वह कार्य करे जो उसके स्वभाव के अनुकूल हो यानी जिस ओर उसमें योग्यता हो ।
—गीत

सच्ची कोमलता, सच्ची उदारता की तरह, अपने प्रति किये गये दुर्व्यवहार से अधिक घायल होता है । —ग्रेविले

कोमल शब्द सख्त दिलों को भी जीत लेते हैं ।
--अज्ञात

स्वभाव की कोमलता देवताओं का गुण है ।

कठोरता और शुष्कता राक्षसों की सम्पत्ति हैं । अतः मानव को सरल, विनीत, स्निग्ध और निष्कपट स्वभाव रखना चाहिए । हृदय को सदा प्रेम रस से सराबोर रखिये । स्वभाव की कोमलता का प्रादुर्भाव होता है भगवद् प्रेम से । भगवान स्वयं कोमल है । जो सच्चे हृदय से प्रायश्चित करता है उसे अनायास ही क्षमा कर देते हैं ।

कोमल हृदय वाला उदार होता है । सम्पूर्ण मानव जगत उसका परिवार होता है । उसके व्यवहार में, वाणी में तथा दैनिक कर्मों में मृदुलता छलकती है । ऐसा मानव व्यवहार में कभी भी कठोरता नहीं आने देगा ।

किन्तु अति कोमलता से सर्वदा बचना चाहिए। एक समय यह अकर्मण्यता तथा निराशाजनक हीनता में परिणत हो जाती है। यह एक मानसिक कमजोरी है अतः मध्य का मार्ग ही अपनाना चाहिए। कोमलता मनुष्य की हीनता और कठोरता के बीच की स्थिति का नाम है। इस दैवी गुण के इच्छुक को यह ध्यान रखना चाहिए कि वह न तो दीन हीन ही बन जाये और न ही उसमें राक्षसी कठोरता का प्रवेश हो जाय।

जहाँ मिठास होगी वहाँ कड़वापन कैसे आ सकता है। कोमल हृदय वाला उदार होता है। समस्त मानव जगत उसका परिवार होता है। इसके दैनिक व्यवहार में मधुरता झलकती है सबसे मीठी वाणी से व्यवहार करता है और व्यवहार में कठोरता नहीं आने देता है।

सदैव मधुरता बरसाओ जहाँ जाओ वहाँ मृदुलता बिखरे। जिस स्थान को छोड़कर आओ मधुर स्मृति छोड़कर आओ।

स्वभाव की कोमलता ईश्वरीय तेज का अंश है। दैवी सम्पदा धारण करने के लिये प्यार से मिश्रित वाणी का प्रयोग करना चाहिये। स्वभाव की कोमलता ही मानव की वास्तविक सम्पत्ति है, जिसे प्रत्येक दशा में सुरक्षित रखकर उसमें बढ़ोतरी करते रहना चाहिए।

: २७ :

जीवन की ग्राधार शिला विद्यार्थी जीवन

विद्वत्ता का अभिमान सबसे बड़ा अभिमान है।

–जेरेमी टेलर

हमारे पूर्वजों ने जीवन के चार विभाग किये हैं— ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास। उसमें विद्यार्थी जीवन (ब्रह्मचर्य) को जीवन की आधार शिला माना गया है, क्योंकि समग्र जीवन की नींव विद्यार्थी जीवन से ही पूर्ण होती है और इसी से आगे का जीवन बनता है। प्रयत्न करने पर, जो कुछ विद्यार्थी जीवन में सीख जाते हैं, उसकी छाप जीवन-पर्यन्त नहीं उतरती। इसलिए आवश्यक है कि वह अपने कर्तव्य को जान लें यदि यह कर्तव्य-परायण हो जाता है तब उनका जीवन प्रकाशमान और संजोने के योग्य बन जाता है, इसलिए विद्यार्थी को सतत प्रयत्नशील रहना उचित है। इसमें विश्वास और श्रद्धा की महती आवश्यकता है। बिना श्रद्धा के विद्यार्थी अपने कर्तव्य में ठीक नहीं उतरता। तुलसीदास कहते हैं :–

श्रद्धा बिना धर्म नहीं होई। बिनुमहि गंध कि पावई कोई ।।

गीता में भी कहा है :– श्रद्धा बाल्लभते ज्ञानम्" श्रद्धा ही ज्ञान प्राप्त करता है, वही कर्तव्य है।

विद्यार्थी जीवन में विद्याध्ययन के कुछ विशिष्ट नियम हैं जिन्हें आधार मानकर जीवन में सार्थकता प्राप्त की जा सकती है।

१. पूर्ण मनोयोग के साथ विद्याध्ययन करना। २. माता, पिता, गुरु आदि के प्रति आदर भाव तथा नित्य प्रति उनके चरणों में प्रणाम करना। ३. फैशन और शौकीनी से बचना। ४. गन्दे साहित्य, गंदे चित्र, कुसंगति आदि से बचे रहना। ५. नित्य भगवान का स्मरण करना। ६. अपना काम अपने हाथ से करना। ६. अधिक व व्यर्थ खर्च की आदत न डालना। ८. सफलता में विश्वास रखना। ९. किसी जीव को दुख न देना, दीन दुखियों से विशेष स्नेह रखना तथा उनकी यथासाध्य सेवा करना। १०. मधुर भाषण करना तथा सदा सबका आदर सम्मान करना और हित चाहना।

अपने इस प्रकार के सद्विचारों से और पवित्र आचरण से अपने अन्तःकरण को शुद्ध करते हुए भगवान का कृपापात्र बन कर मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए। यही विद्यार्थी जीवन में ग्रहण करने योग्य तथ्य है। यह सद्गुण उसी वानप्रस्थ की अवस्था में सीखे जा सकते हैं, उसके बाद की अवस्थाओं में इनका हृदयंगम करना कठिन हो जाता है।

: २८ :

प्रार्थना का स्वरूप और उसका महत्व

हमें अपनी प्रार्थनाओं में सामान्य मंगल कामना ही करनी चाहिए, क्योंकि ईश्वर अच्छी तरह जानता है कि हमारे लिए क्या हितकर है।
—सुकरात

क्या प्रार्थना का सचमुच कोई प्रभाव है? हाँ! जब मन और वाणी एक होकर किसी वस्तु का निवेदन करते हैं तो प्रार्थना का जवाब मिलता है। —रामकृष्ण, परमहंस

प्रार्थना का अर्थ कुछ शब्दों का दोहराना मात्र नहीं है। प्रार्थना का अर्थ है दैविकता की अनुभूति और उसकी प्राप्ति।
—स्वामी रामतीर्थ

युग युगों से मानव चिर शान्ति की कामना रखता आया है और भविष्य में भी शान्ति की आकांक्षा करता रहेगा। पर शान्ति है कहाँ? संसार में तो अशान्ति का ही साम्राज्य है। शान्ति के भन्डार तो सर्वेश्वर भगवान ही हैं। वे ही हमारा परम लक्ष्य हैं उनके पास पहुँचने के लिये प्रार्थना ही हमारे पंख हैं। उनके अक्षय भंडार से सुख और शान्ति प्राप्त होती है। प्रार्थना कीजिये टूटी-फूटी जैसी भी भाषा में हो, सभी

अवस्थाओं में प्रार्थना निरन्तर होती रहे। अपना सम्पूर्ण जीवन प्रार्थनामय बन जाये। तब देखिये कितनी शान्ति का अनुभव होता है।

प्रभु से माँग न कीजिये वे तो हमारे माता-पिता है, हमारी आवश्यकताओं से खूब अच्छी तरह से परिचित हैं। आप तो उनके मंगल विधान को स्वीकार कर लीजिये। उनकी इच्छा के साथ अपनी इच्छा को एकाकार कर दीजिये। वह स्वतः ही आपकी सब कामनाओं की पूर्ति करेगा।

एक सम्बन्धित घटना है। एक भक्त सन्त कहीं जा रहे थे फटी लंगोटी और हाथ में जलपात्र लिये। चलते-चलते एक नदी आई। पार जाने के लिए सभी नौका पर सवार हुए। सन्त महोदय भी एक कोने में चुप-चाप बैठ गये। जब नौका बीच नदी में पहुँची तो अचानक भयंकर आँधी चलने लगी। नौका डगमग डोल रही थी। तीव्र वायु के कारण आँखों में बालू के कण गिर रहे थे। जब मल्लाह नौका सम्भालने में असमर्थ हुआ तो वह चिल्ला उठा—"भाइयो नौका डूबने वाली है अपनी-अपनी रक्षा करो।" सभी के चेहरे फीके पड़ गये परन्तु सन्त तो मस्त थे। जल पात्र से नदी का जल लेकर नौका में भरने लगे। लोग दंग रह गये नौका तो स्वयं डूब रही है फिर भी वे जल भर रहे हैं। किसी ने फटकारा किसी ने गाली दी। सन्त ने कुछ न सुना, पानी भरते ही गये। देखते ही देखते आँधी समाप्त हो गई। मल्लाह ने चैन की साँस लेकर कहा कि गंगा मैया की कृपा से नौका बच गयी। सुनते ही सबके होश हवाश लौट आये। सन्त महोदय पूर्व के विपरीत नौका का जल नदी में फेंकने लगे। सभी हँस रहे थे—कितना

पागल है यह सन्त। पर बाबा ने शान्त स्वर में कहा 'भाई पागल नहीं हूँ भगवान ही की हाँ में हाँ मिला रहा हूँ।'

एक दिन एक स्वामी जी ने सत्संगी जनों से कहा जब कभी जो परिस्थिति हो अनुकुल अथवा प्रतिकूल, ईश्वर को धन्यवाद दो और हृदय से कहो हे प्रभु! मैं यही तो चाहता था। कितना सुन्दर भाव है जो भी इसे अपनायेगा तत्काल कार्य सम्पादन हो जायगा।

अन्य अवसर पर स्वामी जी द्वारा उपदेश करते समय एक जिज्ञासु ने पूछा—"महाराज! भगवान के साथ कैसा सम्बन्ध जोड़ूँ।" सन्त ने उत्तर दिया—"उनका फुटबाल (गेंद) बन जा। जिधर को लुढ़कायें उधर ही लुढ़क जा। बस भगवान की इच्छा में अपनी इच्छा को लीन कर देना ही सच्ची प्रार्थना है मामक शरण व्रज।" इसी से आप ऊपर उठ सकेंगे। व्यय टके का भी नहीं, पर यह ईश्वर प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय है।

अपने स्वार्थ के लिए प्रार्थना करना उचित नहीं। हाँ दूसरों के कल्याण के लिए प्रार्थना करना उत्तम है। इससे प्रभु प्रसन्न होते हैं।

सीता पति रघुनाथ जी, तुम लगि मेरी दौर।
जैसे काग जहाज को, सूझत ठौर न और॥

यह सोचकर कार्य करना चाहिए कि ईश्वर के अतिरिक्त मेरा तो कोई आश्रय है ही नहीं, जो कुछ भी करना है, उसी को करना है। प्रार्थना में असीम शक्ति, शान्ति और सन्तोष है। यदि सच्चे हृदय से ईश्वर की प्रार्थना की जाय तो मृतक भी जी सकता है। इसलिए प्रार्थना करो और उसी के माध्यम से ईश्वर के निकट पहुँचने का प्रयास करो।

: २९ :

जीवन के दो प्रमुख तत्व मुस्कराहट तथा सौन्दर्य

जीवन की कलुषितताओं को मिटाने के लिए मुस्करायें। वीरता, न्यायशीलता, शालीनता, दया, सन्तोष, प्रेम आदि व्यक्ति के स्वाभाविक गुण हैं जो उसके व्यक्तित्व में निखार लाते हैं। उसी प्रकार से मुस्कराना भी व्यक्तित्व को उज्जवल रूप में प्रस्तुत करता है। मुस्कराकर क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या आदि मानव जीवन की मलिनतायें निर्मल और स्वच्छ हो जाती हैं। मुस्कराहट जीवन के पतझड़ यौवन में प्रसून खिलाकर वातावरण को सुखमय बना देती हैं।

मधुर हास्य से जरा सी बात पर प्रसन्नता झलकने लगती है। जब मन में वेदना भरी होगी तो झूमती हुई कलियाँ कैसे खिलेंगी। पर जैसे वर्षा के आने पर उमस मिट जाती है और आकाश निर्मल हो जाता है उसी प्रकार मुस्कराकर मन की उमस मिटा कर निर्मलता का अनुभव कीजिये जो जीवन का बहुत बड़ा रहस्य है।

मुस्कराहट एक कला है। जिन्दगी के लिए जीने का तरीका है। जो लोग हँसी आने पर भी उसको रोक लेते हैं और मुहर्रमी

सूरत बनाये रहते हैं यह उनके लिए एक प्रकार का दंड है जो बेचारे स्वयं को देते हैं।

जो व्यक्ति बच्चों की किलकारियाँ, चुहुल तथा प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर प्रसन्न नहीं होते उनका जीवन नरक तुल्य है। मुस्कराहट वह चुम्बक है जो मलिन जीवन को सरस बना देता है। हँसने में कंजूसी मत कीजिये। गहरे कहकहे लगाइये, अपने जीवन के उपवन में मुस्कराहट के प्रसून बिखेरिये। हँसना स्वास्थ्य के लिये भी लाभदायक है। तभी तो किसी ने कहा है–

"सब रोगों की एक दवाई, खुलकर मुस्कराओ भाई।"

प्रश्न यह है कि सुन्दरता किसे कहते हैं और सुन्दर कैसे बनें ?

एक तो सुन्दरता होती है वह जिसे आप प्रत्यक्ष दर्शन से ग्रहण कर सकते हैं जैसे स्वास्थ्य, चमकती आँखें, गुलाबी गाल, बालों की कोमलता तथा दीर्घता, बाहें, छाती और कन्धों की सुडौलता, कमर का पतला होना और चाल में आकर्षण, जो अपनी तन में गुणों को रखता है आप उसे सुन्दर कह सकते हैं और आजकल तो बहुत से सौन्दर्य प्रसाधन हैं जो इन में से किसी भी कमी को काफी अंश तक पूर्ति कर सकते हैं। यह बात दूसरी है कि कुछ काल तक यह बनावटी सौन्दर्य लोगों को भ्रम में डाले रहे किन्तु एक न एक दिन यह कृत्रिमता प्रकट होकर ही रहती है और वास्तविकता का ज्ञान होता है।

वास्तविक सौन्दर्य व्यायाम से बन सकता है। व्यायाम से छहरापन रहता है और स्फूर्ति बनी रहती है, शरीर में नयी शक्ति का संचार होता रहता है। शरीर का गठन सुन्दर और

सुदृढ़ प्रतीत होने लगता है तथा त्वचा कान्तिमय व मुलायम हो जाती है।

शरीर का निर्माण उपयोग और श्रम करने के लिये ही ईश्वर ने किया है। यदि श्रम द्वारा शरीर का उपयोग नहीं किया जाता तो शरीर की उपयोगिता चली जाती है। जैसे बाल्यावस्था में बालक-बालिकायें उछलते हैं तथा कूदते हुये चंचलता, जोश, प्रफुलता और उत्साह से जीवन को आकर्षक बना लेते हैं। बाल्यावस्था के यही गुण जीवन के अन्त तक बने रहने चाहिये ताकि बच्चों की भाँति ही शरीर जोशीला और उत्साही बना रहे। शरीर का प्रत्येक अंग जितना अधिक कार्यशील रहता है यौवनावस्था उतने ही लम्बे काल तक बनी रहती है। शरीर से श्रम लेते रहने के कारण जो कोष क्षय होते रहते हैं उनका स्थान नये कोष लेते रहते हैं जिससे ताजगी और सौन्दर्य बना रहता है।

एक बात कहनी रह गई यदि आप में आन्तरिक सौन्दर्य भी है तो सोने में सुगन्धि के समान है। स्वतः ही यों आन्तरिक सौन्दर्य द्वारा आप का बाह्य सौन्दर्य निखरेगा। आन्तरिक सौन्दर्य का रहस्य होता है अपने मनोवेगों को सही दिशा में परिचालित करना। अर्थात द्वेष, क्रोध, दूसरों के प्रति घृणा आदि दुर्गुणों को भली प्रकार समझना और नष्ट कर देना। जब मनुष्य का मन स्वच्छ और निर्मल होता है तो उसको बाह्य सौन्दर्य प्रसाधनों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। उसका बाह्य सौन्दर्य स्वतः ही निखरने लगता है।

एक और याद की बात लिखता हूँ। हमारे बुजुर्ग गाड़ी में बैठकर प्रातः-सायं प्रतिदिन हवा खाने जाया करते थे। हम भी

उनके साथ जाया करते थे। पर बालपन में यह बात नहीं बैठती थी कि हवा कैसे खाई जाती है। भला हवा भी कोई खाने की चीज होती है, कभी उनसे दरियाप्त किया जाता था तो उत्तर मिलता था कि सुबह शाम हवा खाना अच्छा है। जब हम बड़े हुए तो आक्सिजन के बारे में पता चला। तब हवा खाने की सारी बात समझ में आयी कि हवा खाने का क्या अर्थ होता है। नगर से बाहर जाकर जो वायु हम ग्रहण करते हैं स्वाभाविक रूप में उसमें आक्सिजन की मात्रा अधिक होती है जो कि हमारे जीवित रहने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। स्वास्थ्य और सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है इसी हवाखोरी से। इससे स्वतः ही बाह्य सौन्दर्य के साथ-साथ ताजगी और प्रफुल्लता उत्पन्न होती।

: ३० :

पांच असहायों की कथा

पाँच अपंग, असहाय मनुष्य एक स्थान पर एकत्र हुए और कहने लगे कि पूर्व जन्म के पापों के कारण परमात्मा ने हमको यह सजा दी है, हमें समाज की सेवा करने का औरों की तरह अवसर ही नहीं दिया गया।

इस पर उनमें जो अँधा था वह बोला यदि मेरी आँखें होतीं तो संसार में जहाँ कष्ट या अव्यवस्था देखता उसे ठीक करता।

लँगड़ा बोला, 'यदि मेरे पैर ठीक होते तो मैं दौड़-दौड़ कर पीड़ित मानवों का उत्थान करता।'

निर्बल बोला 'मैं ताकत का कार्य नहीं कर सकता हूँ। जब बली लोगों को निर्बलों पर अत्याचार करते हुए देखता हूँ तो शोषण के प्रति बड़ा क्रोध आ जाता है। यदि मुझमें बल होता तो इन अत्याचारियों को मजा चखा देता। ये सब शीघ्र ही मैदान छोड़कर भाग लेते। मुझे बस शक्ति चाहिए।'

निर्धन बोला, 'काश ! मैं धनी होता तो संसार के दीन-दुखियों को सर्वस्व लुटा देता। धार्मिक प्रयोजनों की पूर्ति करता, धन होता तो परमात्मा की प्राप्ति की सुविधा भी मिल जाती।

मूर्ख बोला–'मैं समाज में मित्रों की बुद्धिहीनता के कारण लज्जित न होता। पुस्तकें पढ़ कर मानसिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक उन्नति कर लेता, मूर्खों को बुद्धिमान बनाता।'

पाँचों निश्वास खींचते हुए कह रहे थे हाय ! इन्हीं अभावों में हमें जीवन बिताना पड़ेगा।

सौभाग्य से वरुण देव इन असमर्थ और अपंग लोगों की बातें सुन रहे थे। उनको दया आ गई और कहने लगे, इन सब को दुनिया में अपना कार्य पूर्ण करने, सेवा करने, भलाई के कार्य करने का सुअवसर दिया जाये। वरुण देव ने पाँचों के कथनों की सत्यता को जाँच के लिए अपना-अपना जीवन सुधारने का अवसर प्रदान किया और वे सभी क्षण भर में असमर्थ से समर्थ हो गये।

अँधा कहने लगा–'कितना विचित्र, मोहक आकर्षक दृश्य इस संसार में है। भौतिक तथा कृत्रिम सुख की सामग्री सौन्दर्य प्रसाधन मन को लुभाने लगे। सब कुछ विस्मृत करके सारे दिन वह अँधा आँखें पाकर सुन्दर चीजों में उलझा रहता। नारी की रूपमाधुरी उसे मुग्ध करती रहती।

लँगड़े को पाँव क्या मिले मानो पंख लग गये। एक क्षण भी न बैठता। मन-माने स्थलों पर घूमता फिरता। कोई भी एक काम पूरा न करता। वह यह कहकर कि "सूर्य, चन्द्र या नक्षत्र जिस प्रकार चैन नहीं पाते उनका इस प्रकार चलते रहना ही जीवन है।" विश्व भ्रमण को निकल पड़ा उसे अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण भी नहीं रहा।

निर्धन को विपुल धन सम्पदा मिल गई। उसके मन में पल रही अतृप्त आकांक्षाओं और वासनाओं का वेग उमड़ पड़ा। वह महान ऐश्वर्यों से जीवन बिताने लगा। अब भाँति-भाँति के व्यसन और ऐश-आराम ही उसके जीवन का लक्ष्य बन गये।

निर्बल को मजबूत लोगों ने सताया था, अपमानित किया था। पर अब बल मिल गया तो उसमें ईर्ष्या, द्वेष और क्रोध भर गया। जिन लोगों ने उसे प्रताड़ित और अपमानित किया था उनसे चुन-चुन कर बदला लेना आरम्भ कर दिया। कमजोर उसके आतंक से घबराने लगे।

मूर्ख ने विद्या क्या पाई, जिस पर देखिये उसी पर अपनी विद्वता और योग्यता का रौब गाँठने लगा। अपनी बुद्धि के आगे किसी को समझता ही नहीं था। प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों का डटकर विरोध करता, सभा सोसाइटी में धड़ल्ले से अपना मत प्रकट करता। विद्या, बुद्धि, योग्यता की डींग हाँकते न थकता। लोग उसकी प्रशंसा करते और मान प्रतिष्ठा प्रदान करते। परिणाम यह हुआ कि लोकोपकार की इच्छा का परित्याग करके मिथ्या गर्व और झूठे अभिमान से फूल उठा और अपने बुद्धि विद्या के बल पर जमाने भर को उल्लू बनाना प्रारम्भ कर दिया।

इस भाँति नये जीवन को प्राप्त करने के बाद अपंग और असमर्थ लोग केवल मिथ्या भोग-विलास और मजों में अपनी शक्ति का अपव्यय करने लगे और विलक्षण भौतिक सुखों का भोग करने लगे। यही हालत सांसारिक मानव की है। वह भी सुख-सुविधा प्राप्त करके सब कुछ भूलकर और ईश्वर को भी भुलाकर ऐश-आराम में लीन हो जाता है।

ऐसा कोई बिरला ही होता है जो अपनी चेतना को संतुलित रखकर उचित मार्ग चुन लेता हो। विचारों का यही स्थल वह चौराहा है जहाँ पर जीवन के अन्त तक चलने के लिये सही राह का चुनाव करना पड़ता है। देर-सबेर से भले ही राह मिले पर जैसा मिथ्या आनन्द में जीवन पाँचों का चला गया ऐसा न बने यह विचार मन में रखकर जीवन-यापन करना चाहिए।

एक दिन वरुण देव उन पाँचों की ओर से गुजर रहे थे। उन लोगों के वायदे और आचरण देख कर अत्यन्त क्रोधित हुए। पलक मारते ही उन्होंने पहले जैसी अवस्था में आने का शाप पाँचों को दे दिया। वे पाँचों क्षण में ही अपंगता और असमर्थता की अपनी पूर्व स्थिति में आ गये। अब पाँचों पछताने लगे पर अव क्या होता है। किसी ने ठीक ही कहा है।

'समय चूकि फिर का पछताने।
जब चिड़ियाँ चुग गई खेत।'



: ३१ :

नारी की स्वतन्त्रता

नारी संसार का सार है। —कन्फूशियस

स्वतन्त्रता शक्ति के ही पास रहती है और नारी की भारतीय संस्कृति में शक्ति के रूप में कल्पना की गई है। —अज्ञात

प्रत्येक युग की संस्कृति कुछ विशेषताओं को लेकर आगे बढ़ती है। आज की संस्कृति ने गत युग की अनेक मान्यताओं को या तो पूर्ण उपेक्षित कर दिया है अथवा उनमें भारी परिवर्तन कर डाला है। आज के समाज में नारी सम्बन्धी धारणा में भी भारी परिवर्तन आया है। कल जहाँ नारी को घर की चहार दीवारी में बन्द रखने में ही इस समाज ने गौरव का अनुभव किया था वहाँ इस युग की संस्कृति नारी के लिये मुक्ति का संदेश लेकर आयी है।

पशुओं में भी देवत्व का अनुभव स्वयं, समर्पण की भावना एवं दान शीलता जैसे उदार संस्कारों को लेकर चलने वाली भारतीय संस्कृति ने नारी को जहाँ एक ओर महान गौरव प्रदान किया है वहाँ दूसरी ओर उसके पैरों को बेड़ियों में जकड़ दिया है। उसे मानव सभ्यता की कुंजी मानकर "यत्र वार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।" (जहाँ नारियों की पूजा होती है

वहाँ देवताओं का निवास होता है) जैसी नारी के गौरव की घोषणा करने वाली उक्तियाँ कही गई हैं, बहिन बेटी आदि में उसे स्नेह प्रदान किया गया, वहाँ भी नारी को परदे में ही रखना श्रेष्ठ समझा जाता था। किन्तु आज के युग में जहाँ एक ओर नारी की स्वतन्त्रता की भावना बल पकड़ रही है वहाँ दूसरी ओर नारी का वह स्नेह और गौरवमय स्थान गिरता जा रहा है।

इस समस्या पर यदि हम तनिक गम्भीरता से विचार करें तो हमें विचित्र बात देखने को मिलती है। जो लोग आज "नारी के पाँव की बेड़ियाँ काट दो। उसे मुक्त और विकसित होने दो।" इत्यादि नारे लगाकर नारी की मुक्ति की बात कहते हैं, वे ऐसे लोग हैं जो उसकी मुक्ति नहीं चाहते बल्कि उसे किसी अन्य बन्धन में बाँधना चाहते हैं। इसी प्रकार जो नारी पुरुष की परतन्त्रता से मुक्त होने का नारा लगाती है वह प्रायः ऐसी ही नारी है जो किसी अन्य के चंगुल में होने के कारण पति से मुक्ति चाहती है। आज की नारी का अत्यधिक शृङ्गार प्रेम वस्तुतः परपुरुष की प्रशंसा का भाजन बनने का प्रयास अथवा कृपा दृष्टि की खोज ही तो है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसके कदम अधिकाधिक पुरुष की दासता की ओर बढ़ते जा रहे हैं।

स्वसुख को ही सब कुछ मानने वाली नारी के लिए जीवन का उद्देश्य कुछ भी हो, जीवन से उसे कितना ही सन्तोष क्यों न हो किन्तु जीवन के महान उद्देश्यों को अपने वास्तविक रूप में समझने वाली नारी परिवार में न कभी परतन्त्र थी और न हो सकती है। समाज के महान हित के लिए वह अपने ढंग से सब स्वतन्त्र थी और स्वतन्त्र रहेगी।

परिवार समाज की प्रथम पाठशाला है। प्रथम प्रयोगशाला है। नारी ही इस लघुतम और महानतम संस्था की संस्थापिका और व्यवस्थापिका है। भला इससे बड़ा पद इस समाज में और कौन सा हो सकता है, जिसे पाने के लिए नारी किसी और स्वतन्त्रता की माँग करें ? किन्तु ज्यों-ज्यों आधुनिक और पाश्चात्य सभ्यता का विकास होता जा रहा है समाज की इकाई-परिवार छिन्न-भिन्न होता जा रहा है। समाज में असन्तोष, विरोध और असंगत राजनीति की जन्मदाता यही सामाजिक विकृति है। भले ही पहले कन्या संकुचित लक्ष्य लेकर पति के आँगन में प्रवेश करती थी किन्तु उसके हृदय मकरन्द से वह घर तो मधुमय हो उठता था। वह नारी आत्मदान, अतिथि सत्कार, सेवा और प्रेम को परम्परा को सहेज कर रखे हुये थी। अँधकारमय घर में स्नेह और आशा का दोष प्रज्जवलित करने वाली नारी आज कहाँ है ? बाहरी विपत्तियों को सहकर अपने आँचल से गृह के प्रकाश को संजोने वाली नारी आज कहाँ है ? पति-गृह के समस्त नाते-रिश्तों को स्पर्श से सुगन्धित करने वाली नारी आज कहाँ है ? आज तो हमारे सम्नुख नारी का एक दूसरा ही रूप आधुनिक समाज प्रस्तुत करता है, जिसकी सम्पूर्ण विशेषतायें उसकी वेष-भूषा और अति शृङ्गारिकता में छिप जाती है।

भले ही वह नारी पुरातनपंथी थी और साथ ही कोई डिग्री डिप्लोमा भी नहीं रखती था, किन्तु फिर भी उसके सम्मुख उसका एक पथ स्पष्ट था। आज की नारी के जीवन का कोई स्पष्ट लक्ष्य या पथ नहीं है। इसी कारण पारिवारिक समस्यायें अब बढ़ती जा रही हैं। दूर क्यों जाते हैं देखिये प्राचीन संस्कारों में पली नारी समस्त परिवार का भरण पोषण एक निश्चित आय में से करने का दायित्व सरलता से बहन करती

थी, पर आज की तथाकथित शिक्षिता, व्यक्तिगत रहन-सहन में अपने को मार्डनाइज ढंग के सौन्दर्य प्रसाधनों और बहुमूल्य वस्त्रादि को मेन्टेन करने वाली नारी का कुटुम्ब के पालक के द्वारा उचित-अनुचित प्रकार से कमाये गये धन से भी पूरा नहीं पड़ता। इसके साथ ही साथ आज के पाश्चात्य ढंग से पली और रहने वाली नारी को घर के कार्य को दुर्भाग्य या पिछड़ापन समझती है और जिन्हें किसी विशेष कारणवश यह सब करना पड़ता है वे अप्रसन्नता से रोते हुए किसी प्रकार करती हैं।

हमारे धर्मग्रन्थों में पत्नी के लिए सहधर्मिणी, अर्द्धांगिनी, कामिनी, प्रमदा आदि शब्द आते हैं पर आज की स्त्री इन पर्यायों को स्वीकार करने को तैयार ही नहीं है। साथ ही धर्म-भेद, मतभेद ही उसका गौरव और अभिमान है। अपना घर कैद खाने के समतुल्य लगता है।

आज शिक्षित दम्पत्ति में पति-पत्नी के सम्बन्ध क्या हैं ? कौन सा ऐसा प्लास्टर है जो उतको जोड़कर रखता है क्या इसे शरीर सुख मानें ? नहीं, इनका उत्तर है कि आज की स्त्री महज पति के खेलने के लिए गुड़िया मात्र है जिसका सौदा किया जा सकता है।

अब आप निम्न वर्ग की ओर देखिये जो स्त्रियाँ किसी न किसी रूप में अपने पति के व्यवसाय में भाग लेती हैं। नाई, लुहार, कृषक, धोबी, दर्जी, ग्वाला, जुलाहा आदि श्रम जीवियों की स्त्रियाँ उनके पेशे में उनकी सहायक होती हैं। वे अभिजात्य वर्ग की स्त्रियों से अधिक आत्मनिर्भर हैं क्योंकि उन्हें गृहकार्य के अतिरिक्त पति के जीवन धर्म में बराबर भाग लेना पड़ता है।

मैं जानता हूँ कि मनुष्य को समय के साथ चलना पड़ता है

जो जातियाँ समय के साथ नहीं चलती वे नष्ट हो जाती हैं। इसीलिए नारी स्वतन्त्रता के ससर्थन से भला आज कौन इनकार करेगा। प्रकृति ने जो उसको सौजन्य ममत्व के संस्कार व नारीत्व दिया है उसका सही अर्थों में नारी को उपयोग करना चाहिये और पुरुष का अन्धानुकरण न करके स्वयं को पहचानना चाहिये।

पाश्चात्य विचारक रूसो ने लिखा है "स्त्री पुरुष को बनाती है" आज की स्त्रियाँ अपने इस गुरूतरदायित्व को भूल गई हैं। इसी कारण हम गिर रहे हैं। जिस दिन नारी के मातृत्व के आँचल के नीचे सुरक्षित दीप जल उठेंगे उसी दिन हम सही अर्थों में आदमी बन जावेंगे।

इस प्रकार हमने देखा है कि आज के समाज में असंतोष और गिरावट का मूल नारी द्वारा बर्ती गई उपेक्षा है। नारी ने अब तक युगों से बाँधी गई अन्धविश्वास और कुरीतियों की बेड़ियों से स्वतन्त्र होने की माँग तो की है किन्तु स्वतन्त्रता का अर्थ स्वेच्छाचारिता मात्र समझ लिया है जो गलत है। अतः जब तक नारी सही अर्थों में अपने अधिकारों को समझ कर उसका उपयोग करना नहीं सीखेगी तब तक स्वतन्त्रता की बात करना उचित नहीं है। यदि वह आज की पाश्चात्य नारी के समान स्वतन्त्रता चाहती है तो निश्चित रूप से एक दिन ऐसा आवेगा कि समाज पतनोम्मुख होते-होते नष्ट हो जावेगा। प्राचीन नारी को आदर्श मानकर, जो स्वतन्त्र भी थी और सभी प्रकार के अधिकारों का उपयोग करती थी, लेकिन साथ ही वह पति-धर्म, अतिथि-धर्म एवं अपने धर्म (प्रेम, स्नेह, मातृत्व आदि) की रक्षा एवं मानता देती थी, ही हमारा समाज उन्नतिशील हो सकेगा ऐसा मेरा विचार है।

: ३२ :

सच्ची वास्तविकता क्या है ?

सच्ची तृप्ति का विषय कौन है ? परमात्मा !

वास्तव में सच्ची तृप्ति परमात्मा के ही मिलने पर होती है। दुख ही मनुष्यत्व के विकास का साधन है। सच्चे मनुष्य का जीवन दुख रूपी अग्नि में ही तपकर कुन्दन के समान खिल उठता है। नित्य हंसमुख रहो। यह समझो कि शोक ने तुम्हारे लिये जन्म ही नहीं लिया है। आनन्द स्वरूप में सिवाय हँसने के चिन्ता का स्थान ही कहाँ है। सर्वत्र परमात्मा के दर्शन करके आनन्द मग्न रहो। शान्ति को अपने अन्दर खोजोगे तो मिल जायेगी क्योंकि वह तुम्हारे अन्दर है वैराग्य से कामना को भगा दो।

किसी भी दशा में मन को व्यथित न होने दो। उसका विधान दयामय है। अतः परमात्मा पर विश्वास रखकर अपना जीवन उनके चरणों में अर्पण कर दो। फिर निर्भयता तो तुम्हारे चरण की दासी बन जायेगी। बीते लुए की चिन्ता न करो आगे की सोचो शेष समस्त जीवन परमात्मा के ही काम में आने दो।

सदा अपने हृदय को टटोल कर देखो। क्या कमी है। यह कामादिक चुपके से आकर छिप जाते हैं और अवसर पाकर विकराल रूप धारण कर लेते हैं। यदि कोई वाह्य आचरण द्वारा अथवा किन्हीं विशेष परिस्थितियों में फँसकर कोई अनैतिक कार्य कर लेता है, लेकिन उसका अन्तःकरण स्वच्छ हो तो वह क्षम्य है और वह पापी नहीं कहला सकता। गाँधी जी ने तभी तो कहा था कि पाप से घृणा करो पापी से नहीं।

अमुक मकान मेरा है। ईंट और चूने के कण-कण में अपनापन भरा हुआ है लेकिन जब उसे बेच दिया और रुपये मिल गये तो बाद में भले ही मकान में आग लग जाय लेकिन उसके जलने का कुछ दुख नहीं होगा क्योंकि उसमें से मेरापन निकल गया। वास्तव में यह ममता ही समस्त दुखों की जड़ है। वास्तव में मेरा कोई पदार्थ ही नहीं है यदि होता तो साथ जाता। अतः भौतिक पदार्थों को छोड़कर परमात्मा को अपना लो। जब कुछ अपना है ही नहीं तब झगड़ा किसके लिए किया जाय।

तुम और हम कोई भि न नहीं। सर्वदा, सर्वथा निजानन्द में मग्न रहो। विषयों का जहाँ साम्राज्य न हो वहीं चले जाओ फिर निश्चित हो जाओगे। दुख आदि समाप्त हो जावेंगे क्योंकि ये विषय ही दुखदायी हैं। दूसरे के पापों की चिन्ता मत करो। अपने पापों को देखो। किसी के दोषों को ध्यान न दो। ऐसा करने से दोष तो दूर होने से रहे हाँ, घृणा, क्रोध, द्वेष और हिंसा को अवश्य आपके मस्तिष्क पर हावी होने का अवसर मिलेगा। सुई छेद करती है किन्तु सूत अपने शरीर का अंश

देकर भर जाता है। तुम भी इसी प्रकार दूसरे के छिद्रों को भरने के लिए सुई न बन कर धागा बनो। इसी में विश्व का सुख है।

न्याय और धर्मयुक्त शत्रु को अधर्म युक्त मित्र से अच्छा समझो। अपनी स्वतन्त्रता के लिए दूसरे को परतंत्र बनाना अनुचित है। जिस प्रकार आप अपनी बात किसी को सुनाना चाहते हो उसी प्रकार दूसरे की सुनने को तैयार रहो। इसी प्रकार यदि दूसरे की सहनशीलता देखना चाहते हो तो पहले स्वयं सहनशील बनो। अपने पाप को देखना और उन्हें प्रकाश में लाना, पापों से छूटने का सर्वोत्तम उपाय है। जो लोग ईश्वर की आड़ लेकर पाप करते हैं और उन्हें ईश्वर का नाम लेकर धो डालना चाहते हैं, उन्हें नींच समझो। पापों को यमराज भी नहीं धो सकते। वे तो जन्म-जन्मान्तरों तक साथ रहेंगे। पापों से छूटने या भोगों को पाने के लिये ईश्वर स्मरण बुद्धिमानी नहीं है। पाप के नाश का उपाय केवल फल भोगना है या उस पाप का प्रायश्चित करना है। तुच्छ और नाशवान भोगों की परवाह नहीं करनी चाहिये। इस भ्रम में मत रहो कि पाप प्रारब्ध से ही होते हैं और ईश्वर प्रदत्त ही हैं अपितु पाप तुम्हारो आसक्ति से होते हैं।

परमात्मा पर विश्वास न होने से अनेकानेक विपत्तियों और मृत्यु का भय रहता है। तभी शोक और मोह रहते हैं। जिनको भगवान में भरोसा रहता है वे शोक, मोह रहित और निर्भय हो जाते हैं। उन्हें समस्त कार्यों में और सर्वत्र भगवान दिखाई देते हैं। मान चाहने वाले अपमान से

डरा करते हैं। मान का बोझा उतरने से मन हल्का और निडर हो जाता है। शरीर का नाश होना मृत्यु नहीं है। वास्तव में पापों की वासना की समाप्ति ही मनुष्य की मृत्यु है। जो आत्मा को अमर नहीं समझते हैं वे ही मृत्यु भय से डरते हैं और डराते हैं।

दूसरे की त्रुटियाँ सहन करो, आखिर तुम में भी त्रुटियाँ हैं और दूसरे उन्हें सहन करते हैं। धनियों को सुखी न समझो। उनका हृदय टटोलो तो पता चलेगा कि वे कितने दुखी हैं। वे वे गरीबों की अपेक्षा कम दुखी नहीं हैं। उन्हें चारों ओर से विभिन्न चिन्ताएँ चिता की भाँति जलाती रहती हैं। हाँ, धन प्राप्त करके अभिमान से दूर ही रहना चाहिए।

भक्त वही है जिसका अन्तःकरण समस्त पाप ताप से रहित होकर परमात्मा का नित्य निकेतन बन गया है। भक्त का हृदय सब पापों से शून्य होता है तब उसकी शारीरिक क्रियाओं में पाप को स्थान कहाँ ? जो लोग दिन-रात सांसारिक पाप में संलग्न रहकर ऊपर से अपने को भक्त समझते हैं या तो वे जगत को ठगते हैं या वे अपनी विवेकहीन बुद्धि से स्वयं ठगे जाते हैं। ईश्वर भक्त कहलाने वालों पर पहिले दम्भ का आक्रमण होता है लेकिन वह भक्त अपने सुख के लिए बनता है किसी को दिखाने के लिए नहीं।

पापी मनुष्य ही अपने पाप दोषों को दूर करने के लिए और पापों में प्रवृत होने के लिए ईश्वरीय चेष्टाओं का मन-माना अर्थ करते हैं और अपना मनोरथ सिद्ध करते हैं। कुछ लोगों के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण गोपिकाओं के साथ रंग-रेलियाँ मनाते थे, पर मूलतः कृष्ण सभी प्रकार के कलंकों से

रहित हैं। भगवान श्रीकृष्ण में कलंक नहीं है। कलंक है पापियों की पाप वासना, दृष्टि और मस्तिष्क में जो उनमें कलंक का आरोप लगाती हैं। भगवान की ओर से कृत्रिम मनुष्य को कोप और अकृत्रिम मनुष्य को करुणा का प्रसाद मिलता है। कोप का प्रसाद जलाकर, तपाकर मनुष्य को शुद्ध करता है और करुणा का प्रसाद तो शुद्ध पुरुष को मिलता है।

जो भगवान का भक्त बनना चाहता है उसे सबसे पहले अपना मन शुद्ध करना पड़ता है। वाह्य पवित्रता की अपेक्षा चरित्र को उज्जवल बनाने में मन की शुद्धि बहुत अधिक सहायक होती है। मनुष्य को काम, क्रोध, हिंसा, बैर, दम्भ आदि के दुर्गन्ध युक्त कूड़े के अनेक ढ़ेरों को बाहर फेंक कर हृदय सदा स्वच्छ रखना चाहिए तभी उसके हृदय में भगवान आ सकते हैं। बाहर से निर्दोष मनुष्य न बनकर अन्दर से निर्दोष बनना चाहिए। मन से निर्दोष मनुष्य को संसार दोषी बताये तो कोई भी हानि नहीं। परन्तु मन में दोष रहते हुए निर्दोषी कहलाना हानिकारक है। सत्कार्य को किसी भय संकोच या अल्पमति के कारण कभी छोड़ना नहीं चाहिए। तुम्हारे कार्य की निर्दोषिता, उपकारिता और तुम्हारी श्रद्धा, नेकनीयत के प्रभाव से आज नहीं तो कुछ समय बाद लोग तुम्हें अवश्य ही अच्छा समझेंगे और उसे हानि पहुँचाकर पछतावेंगे।

अपने विरोधी को अपने अनुकूल बनाने के लिए सबसे अच्छा उपाय है उससे सच्चा, निष्कपट और सरल प्रेम करो। जो तुम्हारा अनिष्ट करने की सोचता हो, द्वेष करता हो उससे भी प्रेम करो। यदि प्रतिहिंसा को स्थान दिया तो अवश्य ही गिर जाओगे।

कर्तव्य में प्रमाद न करना ही सम्पन्नता की कुंजी है। उसी पर परमात्मा की कृपा होती है। आलसी कर्तव्य विमुख लोग उसके योग्य नहीं। किसी से अपने विरुद्ध बात सुनकर क्रोध या विरोध मत मान बैठो, हो सकता है तुम में ही कोई दोष हो। विरोध का कारण ढूँढो और उसे मिटाने की सच्चे हृदय से चेष्टा करो। ऐसी स्थिति में शान्ति और प्रेम से काम लो।

बुरा कहलाना अच्छा है किन्तु अच्छे कहलाकर बुरे मत बनो। यही संसार का सार है।

: ३३ :

पूजा

जो जिस रूप की पूजा करता है वह उसी रूप को पाता है।
—गीता

कृतज्ञ और प्रफुल्ल हृदय से की गयी पूजा ईश्वर को सर्वाधिक प्रिय है।
—प्लुटार्क

एक छोटे फूल ने पूछा "ऐ सूर्य मैं तेरी पूजा, स्तुति किस प्रकार करूँ?" "अपनी पवित्रता के सरल मौन द्वारा।" सूर्य ने उत्तर दिया।
—टैगोर रवीन्द्र नाथ

बहुत पुरानी बात है, संसार के विविध पुष्पों ने अपना एक संगठन बनाने की सोची। संसार के पुष्पों की विविध जातियों ने अपने-अपने प्रतिनिधि भेजे और मीटिंग प्रारम्भ हुई। सभी प्रतिनिधियों ने सर्वसम्मति से पास किया :—

कि हम पत्थरों की पूजा करते रहें यह कहाँ का न्याय है, यही सोच-सोच कर हम अब पत्थर पूजा नहीं करेंगे। तब प्रकृति ने उन्हे समझाया कि तुम पत्थरों की पूजा नहीं करना चाहते हो न सही। पत्थर ही तुम्हारी पूजा करेंगे। फूल प्रकृति की इस बात को सुनकर फूले न समाये। कुछ समय तक बड़ा

आनन्द मनाया जाता रहा। वे सोचने लगे कि अब तो हम पत्थर के इन भगवानों से भी बड़े हो गए, अब हम ही इनके स्वामी हो गये। हम जैसे चाहें इनसे अपनी पूजा करावेंगे। अचानक एक दिन रंग में भंग हुआ और एक-एक पत्थर उन पर गिरने लगा और सभी फूल कुचल गये। इस आकस्मिक आपत्ति से सभी पुष्प घबड़ा गये और तुरन्त ही निर्णय लिया कि हम अपनी पूजा नहीं करायेंगे; हम ही दूसरों की पूजा करेंगे। हम उसी में प्रसन्न और आनन्दित हैं।

इस नीति कथा का भाव यही हुआ कि दूसरों का सम्मान और आदर करने में ही आनन्द की प्राप्ति है। स्वयं को सम्मान लेने के लिए अपने आप आफर नहीं करना चाहिए।

: ३४ :

गाँधी जी के एकादश व्रत

इस शीर्षक को पढ़कर चौंकने की आवश्यकता नहीं है। ये व्रत भोजन न करने वाले व्रत नहीं हैं, अपितु इनकी वास्तविकता कुछ दूसरी ही है। वास्तव में आज के समय में भौतिकता की चकाचौंध में डूबा हुआ पाश्चात्य और गरीबी से संघर्षरत भारत में ऐसे व्रतों की अत्यन्त आवश्यकता है जो उसे इन सब आपत्तियों से छुटकारा दिला सके। यह व्रत भटके मानव के लिए घोर तिमिर में प्रकाश का कार्य करेंगे।

नीचे इन व्रतों का संक्षेप में वर्णन दिया जा रहा है :—

(१) **सत्यः**—झूठ बोलना और असत्य आचरण का त्याग ही सत्य का पूर्ण अर्थ नहीं हैं, वरन् ऐसा समझना चाहिए कि सत्य ही परमेश्वर है।

(२) **अहिंसाः**—जीवधारियों का हनन न करना ही पर्याप्त नहीं है, अहिंसा के मूल और विस्तृत अर्थों में प्राणिमात्र पर प्रेम करना भी आता है।

(३) **ब्रह्मचर्यः**—इस व्रत के बिना सत्य और अहिंसा का पालन करना असम्भव है। परस्त्री अथवा परपुरुष पर कुदृष्टि से न देखे। विषयों का मन से चिन्तन न करे। पुरुष स्त्री को

मित्र मानकर रहे। स्मरण रहे कि विकारयुक्त चेष्टा से ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है।

(४) **अस्वाद** :—जीभ को वश में रखें। संयमपूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यन्त कठिन है। भोजन केवल शरीर की रक्षा के लिए करना चाहिए, स्वाद के लिए नहीं। भोजन को औषधि समझकर संयम पूर्वक ग्रहण करना चाहिए। भोजन करने के लिए जीवित नहीं रहना चाहिए अपितु जीवित रहने के लिए ही भोजन करना चाहिए।

(५) **अस्तेय** :—इस व्रत हेतु इतना ही पर्याप्त नहीं है कि दूसरों को कोई वस्तु बिना उसकी आज्ञा के न ली जाये वरन् जिस समय तक के लिये ली गयी हो, जिस कार्य के लिये ली गयी हो, उससे अधिक उपयोग में लाना भी चोरी है। इसमें मूल तथ्य यह है कि जितनी वस्तुएँ हैं, ईश्वर उन्हें आवश्यकता से अधिक उत्पन्न नहीं करता, अतः यदि मनुष्य अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ ग्रहण करता है तो यह भी एक प्रकार की चोरी है।

(६) **असंग्रह** :—असंग्रह या अपरिग्रह व्रत भी पूर्वोक्त अस्तेय व्रत का ही अनुपूरक है, जिस प्रकार कि अनावश्यक वस्तु नहीं ली जा सकती उसी प्रकार अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह करना भी अनुचित है। अतः मनुष्य को यथासम्भव सादगीमय जीवन व्यतीत करना चाहिये।

सर्वत्र भय वर्जन :— सत्य, अहिंसा आदि व्रतों का निर्वाह निर्भयता के बिना सम्भव नहीं है। निर्भयता का चिन्तन करना व उसका प्रचार करना आवश्यक है। सत्य परायण

रहने वाला जाति-पाँति से, चोरों से, गरीबी से और मृत्यु तक से अभय रहता है।

स्पर्श भावना :—(अस्पृश्यता निवारण) छुआछूत को अधर्म मानकर अस्पृश्यता निवारण भी व्रत माना गया है। बापू के आश्रम में छुआछूत का कोई बन्धन ही नहीं है। आश्रम की मान्यता है कि छुआछूत, ऊँच-नीच की भावना से अहिंसा धर्म की हानि होती है। आश्रम वर्णाश्रम को मानता है। मध्यकाल में हिन्दू धर्म में मनुष्य का वर्ण वह कहलाने लगा जो कि उसका व्यवसाय रहा है किन्तु प्राचीन धर्मग्रन्थों में स्पष्टतः पैतृक आधार की वर्ण व्यवस्था का खंडन किया गया है।

शरीर श्रम :—अस्तेय (चोरी न करना), अपरिग्रह (असंग्रह अथवा दान न लेना अपनी आवश्यकताओं के अनुसार धनोपार्जन करना) इन व्रतों को रखने के लिए आवश्यक है शरीर श्रम। जब प्रत्येक मानव स्वयं श्रम करके जीविकोपार्जन करेगा तभी वह आत्मद्रोह से बच सकता है। जो स्वयं परिश्रम कर सकते हैं उन्हें अपना दैनिक कार्य बिना किसी की सहायता से करना चाहिए बिना किसी विशेष कारण के सहायक का उपयोग करना अनुचित ही है।

सर्वधर्म समान (सहिष्णुता):—संसार में जितने भी प्रचलित धर्म हैं वे सब सत्य को प्रकट करते हैं। किन्तु अपूर्ण तथा अनाधिकारियों ने धर्म की गलत व्याख्या करके जो खून खराबा किया है वह धार्मिक अनुष्ठान नहीं है। इसीलिए उनमें असत्य का समावेश हो गया है। धर्म का तो अर्थ ही दिया जाता है :—

"धारयति इति धर्मों।" अर्थात धारण करने वाली शक्ति

को ही धर्म कहते हैं।

वास्तव में जितना सम्मान हम अपने धर्म का करते हैं उतना ही सम्मान दूसरे धर्मों का भी करना चाहिए। ऐसी सहिष्णुता होने पर धार्मिक द्वेष की समाप्ति हो जाएगी। इस भावना को सदा दृढ़ रखना आवश्यक है।

स्वदेशी भावना :--इस भावना को दृढ़ करने से समस्त संसार सुव्यवस्थित बन सकता है। जहाँ तक हो सके अपने देश में ही बनी वस्तुओं का प्रयोग करना चाहिये। साथ ही अपने पड़ोसी के साथ मित्रवत व्यवहार करना चाहिए।

बापू ने बहुत निष्ठा और विनम्रता पूर्वक इन्हीं एकादश धर्मों का पालन करने का निर्देश दिया था।

: ३५ :

बिखरे मोती

ये विविध विद्वानों, दार्शनिकों और महात्माओं के सदवचन हैं। जिस प्रकार कीचड़ में से केवल राजहँस ही मोती चुग सकता है इसी प्रकार सांसारिक अनुभवों में से इन्होंने मोती चुन-चुनकर सांसारिक लोगों के लिए दिये हैं। इनमें से कुछ तो गणमान्य और जाने पहचाने लोगों के हैं और कुछ अज्ञात व्यक्तियों के।

पुरुष में नारी के गुण आ जाते हैं तब वह महात्मा बन जाता है और जब नारी में पुरुष के गुण आ जाते हैं तब वह कुलटा बन जाती है। —प्रेमचन्द

स्त्री संसार की अमूल्य ज्योति है। —चार्ली

यदि सरिता श्रोत से अलग हो तो वह सूख जाती है। यही दशा मेरे जीवन की होगी, यदि मैं अनन्त निर्झर से निरन्तर जल ग्रहण न करूँ। —अज्ञात

बाहर की चीजें जो सुख-दुख देती हैं, उन पर आनन्द निर्भर नहीं है, आनन्द मुझ से भिन्न वस्तु है। मुझे धन मिले उसमें सुख मानू यह मोह है। मैं भिखारी होऊँ, खाने का दुख हो फिर भी मेरे इस चोरी या दूसरे प्रलोभनों में न पड़ने की बात जो मौजूद है वह मुझे आनन्द देती है। —महात्मा गाँधी

साधना जब तक साध्य के अनुरूप नहीं होती तब तक साध्य की प्राप्ति नहीं होती। —अज्ञात

हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई बनाने वाले आदमी को भी तो इन्सान बनाया होता। —अज्ञात

कहीं भी किसी ऊँचाई तक पहुँचने में श्रम पड़ता है इसीलिए ऊँचाई का मूल्य है और महत्व है। —अज्ञात

मान तक पहुँचने का रास्ता अपमान की गलियों में होकर ही तो है। ★

विपत्ति में अमृत भी विष हो जाता है। ★

घर में आग लगने पर कूप खोदने के उद्योग से क्या होता है। ★

जड़ चेतन में मात्र अन्तर गति का है, इसीलिये प्रगति का महत्व है। इसीलिये अधोगति से बचना चाहिये। ★

मुक्ति के लिये विवेक और भोग के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता है। ★

व्यवहार में बालक बनो, सत्य में युवक बनो और ज्ञान में वृद्ध बनो। ★

विषयों के अतिरिक्त किसी को शत्रु न समझो। ★

श्रद्धा ही जीवन है, आशा ही जीवन है, निराशा मृत्यु है। ★

क्रोध निर्बलता का द्योतक है। ★

असंतुष्ट मनुष्य किसी को संतुष्ट नहीं कर सकता है, संतुष्ट मनुष्य सबको प्रफुल्लित कर सकता है। ★

अच्छे पुरुषों का सहवास ही स्वर्ग और असत्संग ही नर्क है।

जिस प्रकार फूलों की गन्ध अपने सम्पर्क में आने पर वस्त्र, तिल, तेल, जल, वायु और भूमि को सुवासित कर देती है उसी, प्रकार से संग से संसर्ग जनित गुण आ जाते हैं। ★

बिना छप्पर के घर में जैसे वर्षा का पानी गिरता रहता है, वैसे ही चिन्तन रहित मनुष्य के मन में विषय। शत्रु प्रवेश करते हैं। ★

शत्रु, शत्रु का जितना अनिष्ट नहीं कर सकता, उससे अधिक अनिष्ट कुपथगामी मन अनिष्ट कर सकता है। ★

किसी को कठोर वचन न बोलो, कठोर वचन बोलने से कठोर बात सुननी पड़ेगी। ★

दौड़ती हुई गाड़ी के समान उत्तेजित क्रोध को जो संयत कर सकता है वही यथार्थ सारथी है, दूसरे लोग केवल रास पकड़े हुए हैं। जिस प्रकार अग्नि को जल से शान्त किया जा सकता है उसी प्रकार से मन का संताप शांति से शांत करो। क्रोध कहता है मैं लोगों को अन्धा बनाता हूँ। जैसे लकड़ी अपने ही भीतर से प्रकट हुई अग्नि से जल कर भस्म हो जाती है इसी प्रकार मन को बस में नहीं किया हुआ पुरुष अपने ही लोभ ,तृष्णा, द्वेष, क्रोध इत्यादि वृत्तियों से नष्ट हो जाता है। ★

जो पेड़ सीधे होते हैं वे काट दिए जाते हैं, जो बाँके टेढ़े होते हैं वे खड़े रहते हैं। ★

स्वार्थ भावना वह रई है जो प्रेम दुग्ध में अविलम्ब विलगता उत्पन्न कर देती है। ★

आदर्श व्यक्तियों के व्यवहार का नाम ही सभ्यता है। ★

परमार्थ भावना का बाह्य रूप आदर्श आचरण है, अतः विनम्र समाज सेवा सभ्यता का सर्वोपरि लक्षण है। ★

धर्माचरण अथवा सदाचरण इसी का दूसरा नाम है। ★

: ३६ :

कुछ उपयोगी प्रश्नोत्तर एवं प्रमुख व्यक्तियों के सद्वाक्यों के संकलन

---

१. प्रार्थना क्या है ?
दुखी हृदय की पुकार है ।

२. आपके लिए क्या उचित है ?
केवल अपना कर्त्तव्य ।

३. सबसे बड़ा गुरू कौन है ?
परमात्मा ।

४. गुरू होने के लिए परमावश्यक क्या है ?
परमात्मा जो सबसे बड़ा गुरू है उसकी शरण ।

५. जो लघु को भी अपने समान गुरू बना लेता है वह सच्चा गुरू है ।

६. जिसमें अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त माधुर्य और अनुपम सौंदर्य एक साथ हो वही भगवान है ।

७. भक्त वही है जो भगवान के अतिरिक्त किसी का चिन्तन नहीं करता ।

८. भगवद्भजन के लिए मन की पवित्रता और स्वस्थ शरीर की आवश्यकता है ।

९. जिस मन से कामना निकल जाती है उसमें भगवान निवास करते हैं।

१०. सच्ची व्याकुलता ही भगवान तक पहुँचने में समर्थ है।

११. जिसमें आनन्द की लालसा और भोग जनित सुख की कामना है, वही जीव है।

१२. जो कुछ मिला है उसे अपना न मानो, सब कुछ मिला हुआ परमेश्वर का मानने से लोभादि मिटते हैं।

१३. जिसमें अपने गुणों का अभिमान है उसी को अन्य के दोष दीखते हैं।

१४. राग-द्वेष रहते हुए एकता पूर्ण नहीं होती है।

१५. जो प्रेम शून्य है, वही ईश्वर विमुख है।

१६. अखण्ड प्रसन्नता चाहते हो तो अपने में ही प्रियतम की स्थापना करो।

१७. जो हर काल में है, उसे जानना आस्तिकता है, जो हर काल में नहीं है उसे मानना नास्तिकता है।

१८. अपने दोषों के रहते हुए, यदि दोषों के दुःखों का भान हो जाय तो उससे चेतना उत्पन्न होती है।

१९. अपने दोषों का चिन्तन करो, ऐसा करने से अन्तःकरण निर्दोष बनता है।

२०. भोगों से जो सुख प्राप्त होता है, उसके त्याग से योग सिद्ध होता है।

२१. निर्बल वही है जिसके पास अपना कुछ नहीं है।

२२. अभिमान रहित वही है, जो अपना कुछ नहीं मानता है।

२३. जिसका ध्यान होगा, उसी की प्राप्ति होगी।

२४. जिसके बिना हम नहीं रह सकते, उसका ज्ञान होने पर स्वतः ही ध्यान हो जाता है।

२५. असंतुष्ट मनुष्य किसी को संतुष्ट नहीं कर सकता, जो सर्वदा संतुष्ट रहता है वह सबको प्रफुल्ल कर सकता है।

२६. जिह्वा पाप की बातों को कहने में तत्पर रहती है उसको संयत करना आवश्यक है।

२७. बिना छप्पर के घर में, जैसे वर्षा का पानी गिरता है, चिन्तन रहित मन में उसी प्रकार शत्रु प्रवेश करते हैं।

२८. मनन शीलता अमरत्व की प्राप्ति का मार्ग है, मनन शून्यता मृत्यु का मार्ग है।

२९. घोर शत्रु भी जितना अनिष्ट नहीं कर सकता, कुपथ-गामी मन मनुष्य को उससे भी अधिक अनिष्ट करता है।

३०. मधु भक्षिका, जैसे पुष्प से बिना सौन्दर्य अथवा सुगन्ध अपव्यय किये, मधु संचय करती है उसी प्रकार पाप में लिप्त न रहकर ज्ञान प्राप्त करो।

३१. संग्राम में जिसने लाखों मनुष्यों को जीत लिया हो वह वास्तविक विजय नहीं है, जिसने अपने आप को जीत लिया हो, वह वास्तविक विजयी है।

३२. पाप मुझ पर आक्रमण नहीं कर सकता, यह सोचकर निश्चिन्त न रहो।

३३. एक-एक बूँद से घड़ा भर जाता है, उसी प्रकार निर्बोध मनुष्य क्रमशः पाप मग्न हो जाता है।

३४. किसी को कठोर वचन मत बोलो। कठोर वचन बोलने से कठोर बात सुननी पड़ेगी। चोट करने से चोट सहनी पड़ेगी। रुलाने से रोना पड़ेगा।

३५. दौड़ती हुई गाड़ी के समान उत्तेजित क्रोध को जो संयत कर सहता है वही यथार्थ में सारथी है, दूसरे लोग केवल रास पकड़े हुये हैं।

३६. व्यर्थ मत बोलो। जो अधिक बोलता है, वह निश्चय ही अधिक झूठ बोलता है। जहाँ तक हो सके कम बात करने की चेष्टा करो इसी से शान्ति प्राप्त होगी।

३७. योग सीखने के लिये वन में जाना या अनाहारी होना पड़ता है। चित्तवृति के निरोध का नाम ही योग है।

३८. देहिक वस्तुओं को अपना न समझो परमात्मा को ही अपना समझो। किसी का अनहित किया है तो तप करना होगा।

३९. स्वार्थ सिद्ध किया है तो सेवा करनी होगी।

४०. जो दीखता है उसे ही सत्य न मानो।

४१. जो कुछ तुम्हारे पास संचित है, उसका सदुपयोग करो।

४२. तुम्हारे पास वही आता है जो तुम्हारा भागीदार है। तुम्हारे पास से वही जाता है, जो तुम्हारा नहीं है।

४३. जो सुख भोग से विरक्त है वही जागृत है।

४४. तुम्हें वही मिलेगा जो तुम दोगे।

४५. आस्तिक एक की और नास्तिक अनेक की शरण लेता है।

४६. उपभोग, विधिवत कर्म करने से, आत्मज्ञान त्याग से और भगवान सदभाव से मिलता है।

४७. समर्पण ही सच्चा भजन है। हृदय प्रभु प्रेम से पूर्ण हो, मन निर्विकल्प हो, बुद्धि समीपस्थ हो, यही वास्तविक भजन है।

४८. स्वविवेक युक्त जीवन ही मानव जीवन है।

४६. कामना के रहते हुए विषयों के दासत्व से छुटकारा नहीं मिलता है। कामनाओं का अन्त ही जीवन का मंगलमय सदुपयोग है।

५०. शरणागत को आवश्यक वस्तु बिना मांगे मिलती है।

५१. सच्चा सेवक स्वयं प्रभु की कृपा का पात्र बन जाता है और गुरूजनों का आशीर्वाद उसे बिना मांगे मिल जाता है, जो जिसके काम आता है वही उसका प्रेम पात्र बन जाता है।

५२. जिसके लिए सभी द्वार बन्द हो जाते हैं उसके लिये प्रभु की कृपा का द्वार खुला रहता है।

५३. प्रार्थना, आस्तिक का जीवन और निर्बल का बल है। जिसके द्वारा तुम अनुभव करते हो वह स्वयं प्रकाश एवम् निज स्वरूप है।

५४. मन के निःसंकल्प होने पर ध्यान दृढ़ होता है।

५५. हम अहं को नहीं भूलते किन्तु अहं के भीतर जो सत्य है उसे भूले रहते हैं।

५६. अहं मिटे बिना ईश्वर भक्ति नहीं होती है। या तो जिसे चाहते हो उसके बिना चैन न लो या चाह का कुछ त्याग करो।

५७. सभी प्रकार की चाह शरीर से उत्पन्न होती है। चाह मिटते ही ईश्वर से दूरी और संसार से निकटता के सम्बन्ध का अन्त हो जाता है।

५८. सभी प्राणियों में विषय सुख की कामना रहती है किन्तु विवेकी पुरुष में चाह न होने से विरक्ति आती है।

५९. सांसारिक सुखों को चाहने वाले सभी दीन हैं।

६०. जो ईश्वर से संसार की वस्तु चाहते हैं वे संसार में फँसे रहते हैं।

६१. दोषों के रहते हुए और उन्हें बिना निकाले हुये चैन न मिले, वही निवृति है।

६२. अनेकता का जहाँ अन्त है वही एकान्त है। एकान्त ही प्रभु से मिलने का द्वार है।

६३. वियोग के बिना योग का आनन्द नहीं, इसीलिए प्रभु छिपे रहते हैं।

६४. त्याग से शान्ति, तप से शान्ति, अपनत्व से प्रीति, सेवा से पवित्रता स्वतः आ जाती है।

६५. जब तक तुम किसी पर अपनी प्रसन्नता से विभोर न करोगे तब तक दीन न बनोगे, यदि तुम किसी वस्तु को अपना न मानोगे तो अभिमानी बनोगे।

६६. बीते हुए का मनन न करो, आगे की चिन्ता न करो वर्तमान और संयोग में रस न लो। परम प्रभु के लिये व्याकुल बनो। यही उनकी अराधना है।

६७. जिसके, योगानुभव से भय, चिन्ता और दुख मिट जाते हैं वही महान है।

६८. जगत-दृश्यों से दृष्टि हटा लेने पर उस महाप्रभु का अनुभव होता है।

६९. भगवद-चिन्तन से विषय-चिन्तन की, त्याग से राग की, प्रेम से द्वेष की, योग से भोग की और आत्मज्ञान से

देहाभिमान को मिटा सकते हो। ममता सहित प्यार ही राग है ममता रहित प्यार ही निष्काम प्रीति है।

७०. प्रेम को व्यापक सीमायुक्त बना लेना ही भक्ति है। अपने आप से विश्राम लेना मुक्ति है। प्रीति की प्यास वही है जो मिटे नहीं, प्रीति का पेट वही है जो भरे नहीं, प्रीति का जल वही है जो कभी घटे नहीं।

७१. बड़ी से बड़ी अच्छाई अभिमान आने पर बुराई में बदल जाती है।

७२. विवेक से अभिमान की निवृति होती है।

७३. आवश्यकता होने पर ही सच्ची चाह होती है।

७४. सुख के भोगी सौभाग्यवान नहीं हैं क्योंकि सुख का अन्त अवश्य होगा। सौभाग्यशाली वही होते हैं जो सुख से विरक्त होकर ही मनुष्य परमेश्वर की शरण लेता है।

७५. दुख दोषों को मिटाने आता है। नम्रता ही अभिमान से बचाती है। विनीत, नम्र और त्यागी परमार्थ सिद्धि प्राप्त करता है।

७६. पथ की कठोर परीक्षा में नम्रता और धैर्य के द्वारा ही सफलता प्राप्त होती है।

७७. परम प्रभु के प्रीतिपूर्वक ध्यान स्मरण से प्रपंथ का विस्मरण होता है। महान के चिन्तन से महत्ता प्राप्त होती है। चिन्तन से ही चित्त का रूप बन जाता है।

७८. हीरे से जौहरी बड़ा है क्योंकि उसी के द्वारा मूल्यांकन किया जाता है। औषधि से वेद्य बड़ा है क्योंकि उसी के द्वारा औषधि का उपयोग कराया जाता है। इसी

प्रकार भगवान से गुरू बड़ा होता है क्योंकि गुरू के द्वारा ही भगवान का बोध होता है। भगवान के ज्ञान स्वरूप को ही गुरू कहते हैं।

७९. वर्तमान जीवन से असन्तोष होने पर उन्नति का आरम्भ होता है।

८०. मान तथा भोग को सुख की तृष्णा ने बांध रखा है। दासता में दोष अपने देखो और उन्हें दूर करो, गुण जहाँ देखो परमेश्वर के समझो।

८१. असत् से विरक्त रहना सत् में मन बुद्धि को अनुरक्त रखना ही सत्संग है। सत् सर्वत्र विद्यमान है परन्तु असत् को इच्छाओं ने ढक लिया है।

८२. तप न करोगे तो रोग, भोग को छीन लेगा, दान न दोगे तो कोई उसे अपने आप ले ही लेगा।

८३. दया दीन के साथ रहती है, दया के साथ सभी सद्‌गुण रहते हैं।

८४. जागृत वही है जो मन को विकारों और दोषों से बचाये रखता है।

८५. तुम्हें आनन्द प्राप्त करना है, आनन्द का चिन्तन करो और यदि तुम्हें प्रेमी होना है तो प्रेमस्वरूप का चिन्तन करो। माया के चक्कर से बचना है तो परमेश्वर का आश्रय लो।

८६. सेवा के लिये सभी को अपना मानो और सेवा करो, अपने लिये परमेश्वर के अतिरिक्त कुछ न चाहो।

८७. संसार के सभी महापुरुष दूरदर्शी होने के कारण नित्य जीवन प्राप्त कर चुके हैं।

८८. मनुष्य की सामर्थ, बुद्धि से नहीं, अभ्यास से आती है।

८९. महान पुरुषों पर अधिकांश व्यक्ति भौंकते ही हैं, जैसे किसी अजनवी को देखकर कुत्ते भौंकते हैं।

९०. बुराई के अवसर दिन में सौ बार आते हैं पर भलाई का अवसर वर्ष में एक बार आता है। --वाल्टेयर

९१. आज पढ़ना सभी जानते हैं किन्तु क्या पढ़ना चाहिए यह कोई नहीं जानता है।

९२. अज्ञानता ही मोह और स्वार्थ की जननी है अतः अज्ञानी ही दुष्ट होते हैं।

९३. मनुष्य जितना छोटा होता है उसका अहंकार उतना ही बड़ा होता है।

९४. जिसके पास स्वास्थ्य है, उसके पास आशा है। जिसके पास आशा है उसके पास साहस है। जिसके पास साहस है उसके पास सब कुछ है।

९५. बुरे व्यक्ति के पास अच्छा बनने का केवल एक ही उपाय है कि वह साहसी और देश भक्त बन जाय।

९६. जो अपने सिद्धान्तों के लिए सब कुछ होम कर देने के लिए तैयार है वे अवश्य ही सच्चे हैं।

९७. आलस्य भी एक प्रकार की हिंसा है।

९८. जन्म उसी का सार्थक है, जिससे कुल की उन्नति हो।

९९. केवल वही व्यक्ति जीवित माने जाते है जिसके गुण जीवित हों ।

१००. पढ़ने से सस्ता कोई मनोरंजन नहीं है ।

१०१. अज्ञानता एक ऐसी रात्रि के समान है जिसमें न चाँद है न तारे ।

१०२. अस्पृश्यता का कोई आधार नहीं । परमेश्वर का द्वार सबके लिये है यदि वह बन्द हो जाये तो परमेश्वर परमेश्वर नहीं ।

१०३. असन्तोष ही किसी व्यक्ति या राष्ट्र की उन्नति का प्रथम चरण है ।

१०४. आपत्तियों से बढ़ करँ कोई और बड़ी शिक्षा नहीं है ।

१०५. समुद्र से बड़ा स्राकाश है और आकाश से बड़ी आत्मा ।

१०६. कोई भी आश्चर्य तीन दिन से अधिक नहीं टिकता है ।

१०७. हर विफलता पर तुम आंसू न बहाओ, सफलता का पहला चरण यही है ।

१०८. इच्छा से दुख आता है । इच्छा से भय आता है जो इच्छाओं से मुक्त है उसे न दुख है न भय सताता है ।

: ३७ :

सुधा बिन्दु

[प्रस्तुत संकलन में विविध दृष्टाओं की वाणी का संक्षिप्त संग्रह प्रस्तुत है जिसे लेखक ने विविध सन्तों के सौजन्य से प्राप्त किया है।]

कामना :

[निर्मल मन में उस अनन्त की अनन्त प्रतिमा समा जाने पर, समस्त सृष्टि में उसी का रूप समाया हुआ दिखायी देने लगता है तथा समस्त विकारों का स्वतः ह्रास हो जाता है। इन विकारों की सुधि दिलाने वाले निन्दक को भी साधक स्तुत्य ही मानता है। यहाँ इसी स्थिति की प्राप्ति की कामना अभिव्यक्त की गई है।]

कब यह रसना राम रटेगी।
छांडि सकल जंजाल जगत के वाद-विवाद तजैगी ॥
उमंगि उमंगि सिय राम नाम लै, मन में मोद भरैगी।
पर अवगुन न भनै निसि बासर, हरि गुन गान करैगी ॥
मधुर सुधा रस रुचिर नाम को रुचि सो स्वाद चखैगी।
स्नेह लता कब जुगल माधुरी नैनन माँहि बसेगी ॥

निर्मल नीर सरोवर में जब पत्थर फेंका जाता है।
अन्तर्मल ऊपर आ जाता, जल अस्वच्छ हो जाता है॥
पत्थर सदृश कठोर शब्दों से मुझे क्रोध क्यों आता है।
अन्दर छिपा हृदय मल मेरा ही ऊपर आ जाता है॥
कुवचन का क्या दोष जो अन्तर्मल निकाल दिखलाता है।
मैं उपकार मानता उसका, जो मल दूर हटाता है॥
सागरवत् गंभीर बना दो, क्षमी, सहिष्णु धरित्रि समान।
विधु सम विमल बना दो मेरी यही नित्य विनती भगवान॥

: ३८ :

सर्वव्यापकता

[राम कण-कण में रमा है। यह जीव राम का ही रूप है। किन्तु उसका साक्षात्कार पाने के लिए ज्ञान-चक्षु चाहिए।]

रामहि राम सबै भर पूरण राम बिना नहीं खाली जगा है।
जल में, थल में, वायु, पावक में, सूत का साज तगा ही तगा है।।
सचराचर में, थर थावर में, जैसे हेम का भूषण हेम लगा है।
कहै राम चरण, नहीं ज्ञान बिना गुरू भूलै फिरौ चहुँ देस भगा है।।

यह कोई और ही है आदम इन्सां के पुतले में।
वरना बोल सकती है, कहीं तस्वीर मिट्टी की।।

घी दूध में रम रहा, व्यापक सब ही ठौर।
दादू वक्ता बहुत हैं, मथि काढै तो और।

व्यूह समूह बसै जिमि ध्यानी, पै ध्यान धरै नहिं चित डिगावै।
भोगि न बांधि सकै तिमि योगै, जो भोग में योग समाधि लगावै।।

: ३९ :

अनुभूति

[ब्रह्मं जानाति ब्रह्मैव भवति, जो ब्रह्म को जान लेता है, वह स्वयं ब्रह्मं हो जाता है। परमात्मा अद्वैत और अविनाशी है। आत्मा उसी का अंश अथवा स्वयं उसी का रूप है। विश्व का आभास तो भ्रम के कारण होता है। द्वैत भावना को भी जन्म देने वाला यही भ्रम अथवा माया है। इसीलिए संसार की विविध विरोधी वस्तुओं अथवा भावों का मूल्य सापेक्षता में ही होता है। केवल ईश्वर ही निरपेक्ष है और उसी का अस्तित्व किसी अन्य की सापेक्षता की अपेक्षा नहीं रखता। अतः ईश्वर ही सद् है। ज्योति की अपेक्षा रखने वाला तम, सुख की अपेक्षा रखने वाला दुख आदि सद् कैसे हो सकते हैं।]

स्वयं ज्योति के उजाले में क्या नहीं दीखता।
स्वयं तम की तिमिरता में क्या नहीं खो जाता॥
ज्योति और तम में सम्बन्ध है सापेक्षता का।
सापेक्ष वस्तुओं का अस्तित्व नहीं होता॥
अतः न ज्योति है, न तम।
जब न ज्योति है, न तम है, तब क्या दीखता,
क्या न दीखता है।

बात तो यह है कि केवल मात्र स्वयं के
अतिरिक्त,
उस स्वयं के बारे में न कुछ कहते बनता न
चुप रहते बनता ।
कहीं और है ही क्या, सच, कुछ भी तो नहीं ॥१॥

तू ही तो सच्चिदानन्द मुक्त है, तू ही अद्वैत अविनाशी ।
भूले अपने आपको काहे गले में डाली है फांसी ॥
महाराज तुम, दीन दुखी हौं, भोगें भूल, कलेशों को ।
जय सुख चाहें सदा अचल तो, मान वेद उपदेशों को ॥
छोड़ वासना सब भोगन की, बस कर मन इन्द्रिय गण को ।
शोक सहन कर, क्षुधा पिपासा, दूर छोड़ दे दुरजन को ॥
सीमित वाणी, हो अति विनीत, तू जा मिल ऐसे गुरुजन को ।
ब्रह्मनिष्ठ हो, वेद निपुण हो, शुभचिन्तक हो, सब जन को ॥
सुन उपदेश, तू देख आपको, तू ही तो घट-घट का प्रकाशी ।
भूले अपने आपको काहे गले में डाली है फांसी ॥

सुख स्वरूप तू, है अगाध, तेरे एक कण को ले सारे ।
सुखी मान रहे अपने आपको ब्रह्मादिक न्यारे-न्यारे ॥
अज्ञान नींद के स्वप्न जगत में पड़ा भूल, उसको प्यारे ।
तू फिरे ढूंढता सुख को जगत के, विषयों के लारे-लारे ॥
मृग-तृष्णा ही में लीन जगत के, सुख से हीन हैं वे सारे ।
कस्तूरी-मृग जिमि भ्रमता, तू, दुख पावे मारे-मारे ॥
जरा अपना मुख ही देख तो तू, है सदा निरंजन सुख रासी ।
भूले अपने आपको काहे, गले में डाली है फांसी ॥

जन्म-मरण हैं धर्म देह के, तू अपने में क्यों माने।
क्षुधा, पिपासा, धर्म, प्राण के अपने तू क्योंकर जाने॥
शोक-मोह है धर्म चित्त के तू अपने में क्यों ठाने।
आना-जाना धर्म लिंग का, तू अपने में क्या साने॥
तू असंग साक्षी इन सब का जगत जाल तू ही ताने।
चार वेद को खोल देख ले, सबके हैं यह ही माने॥
तू अखंड सब सत्य रूप हैं, जगत है सब अविनासी।
भूले अपने आपको काहे गले में डाली है फांसी॥

नहीं भेद का गंध है तुझ में, तू ही तो है सबका प्यारा।
अन्तर्यामी रूप सभी का तू ही तो है पालन हारा॥
आकाशवत् तू ही सब में अनुगत हुआ भी है सबसे न्यारा।
सब कुछ कर्ता, तो भी अकर्ता, अचरज है यही सारा॥
डर तेरे से, अपने नियम पर, चलें चाँद सूरज तारा।
रज्जु-भुजंग के मानिन्द तुझ में दिखता है यह जग सारा॥
विद्या निधि तू अजर-अमर है, तू ही तो है घट-घट वासी।
भूले अपने आपको काहे गले में डाली है फांसी॥
दुर्गाशंकर हमी तो हैं और विष्णु हमी को कहते हैं।
ब्रह्मा, इन्द्र और गणपति हमारा भेद नहीं सहते हैं॥
वेद-शास्त्र सब हमारी महिमा प्रेम लगाकर गाते हैं।
निखिल-चराचर मंदिर हमरे, दिल को खोल बतलाते है॥
पूजा हमारी सब जग करता पूजक भी तो हम ही रहे।
अपने पूज्य से भेद मानना पशु भाव यह वेद कहे॥
हम अनन्त घट-घट के वासी हमरी कोई पनाह नहीं।
अपनी मौज में मस्त हुये हम, दूजे की परवाह नहीं॥
माना जगत असार सभी हम किसी की हमको चाह नहीं।
अपनी मौज में मस्त हुए हम दूजे की परवाह नहीं॥

पाँच भूत का बना देह यह, हमरा इसमें योग नहीं ।
तन मन के हम देखनहारे हमको कोई रोग नहीं ।।
भाई, बहन, सुत मन की कल्पना हमरा जग में कोई नहीं ।
देह-योग से नाते सब यह हमरा तो अब सोई नहीं ।
जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति का अब हम में कोई निशान नहीं ।।
बंध मोक्ष हैं धर्म हमारे इसमें कोई प्रमाण नहीं ।
हम अगाध सुख सिंधु जगत में हमरी किसी की थाह नहीं ।।
अपनी मौज में मस्त हुए हमें दूजे की परवाह नहीं ।।

जन्म-मरण और जरा आदि का हममें कोई भी काम नहीं ।
तुरिया पद में आसन हमरा द्वैत का हम में नाम नहीं ।।
'अस्ति' भांति, प्रियता यह हमरी सब चीजों में दमक रही ।
सूर्य, चन्द्रमा, अपने में यह ज्योति हमारी चमक रही ।।
अस्ति-भाति से अलग करो तो नाम रूप कोई चीज नहीं ।
हम से अलग कर सोच देख लो, कोई जगत का बीज नहीं ।।
वायु सुखा सकता नहीं हमको अग्नि में भी दाह नहीं ।
अपनी मौज में मस्त हुए हमें दूजे की परवाह नहीं ।।

जन्म मरण का काम नहीं अब, करम कोटि को पटक दिया ।
मूल, अविद्या, इल्लत को हम, छोड़ किनारे सटक दिया ।
निरावरण हम, ब्रह्म रूप, हैं हम ही अद्वैत अविनाशी ।
निराकार हम निर्विकार, हैं हम ही तो सत् चित् सुख राशी ।।
जीव, ईश सब रूप हमारे, सबसे निराले हम ही तो हैं ।
जान आपको खुद मस्ती से, वह मतवाले हम ही तो हैं ।।
अंत कहीं भी हमरा नहीं, हम में बरस दिन, ऋतु, माह नहीं ।
अपनी मौज में मस्त हुए हमें दूजे की परवाह नहीं ।।

: ४० :

ज्ञानोदय

[विश्व के सुख-दुखों की अनुभूतियाँ मानव को जगत् की नश्वरता और सारहीनता का बोध करा देती है। संतों की वाणियाँ भी मानव को इस सराहनीयता का संकेत निरन्तर करती रही है। यहाँ कुछ ऐसे ही सारपूर्ण वचनों का संग्रह है।]

घड़ा एक नीर का फूटा। पत्र एक डार से टूटा॥
ऐसेहि नर जात जिन्दगानी। अजहूँ नाहिं चेत अभिमानी॥
भूलो जनि तन गोरा। जगत में जीना है दिन थोरा॥
निकसि जब प्राण जावेगा। कोई नहीं काम आवेगा॥
सजन, परिवार, सुत, दारा। सबै एक राजै होइ न्यारा॥
तजो मद, लोभ, चतुराई। रहो निस्संक जग माहीं॥
सदा न जान, ये देही। लगावो नाम से नेही॥
कहै धर्मदास कर जोरी। चलो जहँ देस है तोरी॥
बुद्धि रूपीं चतुर सारथी मन लगाम कस लेता है।
इन्द्रिय रूपी घोड़े को वह कुपथ जाने नहीं देता है॥
जहाँ कहे बड़े प्रेम से उसे वहाँ ले जाता है।
स्वर्गादिक का भ्रमण कराकर ब्रह्म लोक पहुँचाता है॥
जहाँ पहुँच कर आत्म देव फिर लौट कभी नहीं आता है।
तन रथ बैठे आत्म देव का मारग कष्ट मिटाता है॥
यह बाजार निरगुन का है, मैं खरीदार मालिक का हूँ।
मालिक भी हूँ और मैं ताबेदार भी मालिक का हूँ॥
वह मेरा है दोस्त और मैं भी तो यार मालिक का हूँ।
जो चाहे सो करूँ मैं, मुखतियार मालिक का हूँ॥

: ४१ :

प्रेमोपासना

[ईश्वर तो सर्वव्यापी है। उसकी उपासना के लिए कहीं जाना निरर्थक है। उसकी उपासना तो केवल प्रेम से की जा सकती है। जिसके हृदय में उसके प्रेम का अंकुर उत्पन्न हो गया, बस वही उसे पा लेता है। यह अंकुर केवल शुद्ध हृदय में ही उत्पन्न होता है और यह हृदय की शुद्धता हरिजनों की संगति में ही प्राप्त हो सकती है। ऐसा शुद्ध प्रेम सर्वथा निर्व्याज होता है। इसमें केवल सर्वस्व त्याग की भावना होती है।]

तन मथुरा, दिल द्वारिका, काया काशी जान।
दस द्वारे का देहरा, तामे जोति पिछान ॥

मन्त्र-तन्त्र सब झूठ हैं, मत भरमो जन कोय।
सार शब्द जाने बिना, कागा हंस न होय ॥

प्रेम पियाला जो पिये, सीस दच्छिना देय।
लोभी सीस न दे सकैं, नाम प्रेम का लेय ॥

प्रीति का फिर रस कहाँ, जब दिल में गांठें पड़ गई।
गन्ने में हैं जहाँ गाँठें, वहाँ पर रस नहीं॥

इबादत करते हैं जो लोग जन्नत की तमन्ना में।
इबादत तो नहीं, वह इक तरह की तिजारत है॥
मगर जब नेमत में जुबां झुकती है बन्दे की।
वह सच्ची बन्दगी है इक शरीफाना इबादत है॥
है कोई नहीं इबादत इससे बढ़कर, ऐ लखन।
अपने कामों से न दुख पहुँचे किसी इन्सान को॥
मिटा दो खुद को इतना, कि रहे ना कुछ निशां बाकी।
अगर पाना सनम को है, खुदी से हाथ धो बैठो॥

: ४२ :

साधु, संत एवं सन्मित्र

[यह तीनों ही इस जगत में दुर्लभ हैं। यदि इनकी प्राप्ति हो सके, तो ईश्वर को भी इनके लिये त्यागा जा सकता है। लोकसेवा से बड़ी कोई सेवा नहीं है।]

हरि से तू जन हेत कर, कर हरिजन से हेत।
माल-मुलक हरि देत हैं, हरिजन हरि ही देत॥

इच्छा डोलत बहु फलहिं, नहिं उर आनत ज्ञान।
सो सन्यासी नष्ट है, ता हित नरक महान॥

ब्रह्म रूप ब्रह्महिं जपत, ममता मोह विहीन।
सो सन्यासी श्रेष्ठ है, उदासीन मति कीन॥

पंडित और मशालची, दोनों सूझे नाहिं।
औरन को करे चाँदना, आप अँधेरे माँहिं॥

ज्ञान बढै गुणवान की संगत, ध्यान बढै तपसी संग कीन्हें।
मोह बढै परिवार की संगत, लोभ बढै धन में चित्त दीन्हें॥
क्रोध बढै नर मूढ की संगत, काम बढै तिय की संग कीन्हे।
बुद्धि विवेक विचार बढै, कवि दीन सुसज्जन संगत कीन्हे॥

मिलना जग में कठिन है, मिलि बिछुड़ो जनि कोय।
बिछड़ा सज्जन तेहि मिले, जिन माथे मनि होय ।।

जिन्दगी उसकी है जो जीता है औरों के लिये।
उसका जीना हेय है जो जीता है अपने लिये ।।

मनुष्य है वही कि जो मनुष्य के लिये मरे ।।

सब विधि सों सेवा करे, करे सकल सुख दान।
आपु वरै दुख मित्र को, करै न कुछ अभिमान ।।

दुराचार, दुर्मति, दुरित हरै सहज दे दान।
सेवे निज आत्मा सरिस मित्र सो परम सुजान ।।

: ४३ :

जगत की नश्वरता एवं दुखमयता

[जगत की नश्वरता का उल्लेख सभी संतों ने बड़े विस्तार से किया है। यहाँ कुछ चुने हुए अंश प्रस्तुत किये जा रहे हैं।]

किसी घर में घर न कर बैठना, इस दारे फानी में।
ठिकाना बेठिकाना औ मकां वर लामकां रखना।।

इकट्ठे गर जहाँ के जर, सभी मुलकों के माली थे।
सिकन्दर जब गया दुनिया से, दोनों हाथ खाली थे।।

घर जारे घर ऊबरे, घर राखे घर जाय।
एक अचम्भा देखिये, मुआ काल को खाय।।

ऐसा कोई न मिला, जामे रहिये लागि।
सब जग जलता देखिया, अपनी-अपनी आगि।

: ४४ :

विविध

चंदन की चुटकी भली, गाड़ी भरौ न काठ ।
चतुर नर एकहि भलौ, मूरख भले न साठ ।।

चिन्ता ज्वाल शरीर बन, दावा लगि-लगि जाय ।
प्रकट धुंआ दीखे नहीं, उर अंतर धुंधियाय ।।

द्वेष करोगे, द्वेष बढ़ेगा, प्रीति करोगे प्रीति ।
जैसा मुख वैसा दीखेगा, जग दर्पण की रीति ।।

तुलसी साथी विपति के, विद्या, विनय, विवेक ।
साहस, सुकृत, सत्य व्रत, राम भरोसा एक ।

राजस सों तामस बढै, तामस सों बुद्धि नास ।
रज गुण, तम गुण छाडि के, करो संतो गुण वास ।।

ब्रह्म-ज्ञान जान्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय ।
कर्महीन सो मूढ नर, सहज नरक महँ जाय ।।

न्हाए-धोए क्या भया, जो मन मैल न जाय ।
मीन सदा जल में रहे, धोए बास न जाय ।।

तैसोई मति होत है, तैसोई व्यवसाय ।
होनहार जैसी रहै, तैसोई मिलत सहाय ।।

पहले था स्वाध्याय शास्त्र का, पढ़े जा रहे अब अखबार ।
तब थी कीर्तन कथा, मुकदमे अब झूठे कर रहे तैयार ।।

: ४५ :

बच्चों में शांति प्रचार

बच्चों में शांति विचार किस प्रकार जागृत किये जा सकते हैं–यह सब जानते हैं कि झगड़े करना, लड़ाई लड़ना उचित विचार नहीं है बल्कि एक शाप व दैवी प्रकोप है। बच्चे ही बड़े होकर लड़ाई झगड़े करते हैं इसका दायित्व माताओं पर होता है। साथ ही माताएँ अपने बच्चों को किस प्रकार की शिक्षा देती हैं अर्थात् शांति की अथवा अशांति की। माताएँ जैसी शिक्षा बच्चे को देती हैं बच्चा वैसा ही होता है। माताएँ बच्चों को प्रेम की एकता की शिक्षा दें सकती हैं–जैसे यदि कोई खेल खेलते समय किसी से लड़ाई कर बैठता है तो वह स्वभावतः इसकी शिकायत अपनी माता के पास तुरन्त करता है। इस समय यदि उसकी माता उसे शांति से सान्त्वना देकर चुप करा देती है और उसे लड़ाई न लड़ने की शिक्षा देती है तो बच्चा अपनी माता के कहने पर भविष्य में लड़ाई व द्वेष को नहीं सोचता तथा इस प्रकार उसमें शांति की नींव पड़ती है। इसके विपरीत यदि माताएँ अपने बच्चों पर ध्यान न देकर ऐसे छोटे-छोटे झगड़ों की चिन्ता नहीं करतीं तो धीरे-धीरे बच्चों में द्वेष व शत्रुता का भाव बढ़ता है। इससे आगे चलकर उन्हें हानि होती है। अतः माताओं तथा निकटतम सम्बन्धियों को चाहिये कि बच्चों में मित्रता का भाव बढ़ावें।

हमारे देश में अधिकतर जनता ग्रामों में रहती है। ग्रामों की स्त्रियों में शिक्षा का अभाव है। ऐसी अवस्था में वे अपने बच्चों में आपस का प्रेम बढ़ाना तो दूर रहा द्वेष को बढ़ावा देती हैं। इससे बच्चे बड़े होकर आपस में आगे झगड़े करते रहते हैं। यही कारण है कि ग्रामों में मुकदमे बाजियाँ अधिक होती रहती हैं इससे समय व धन की हानि होती है। आपसी एकता समाप्त होती है। कुल मिलाकर इसका प्रभाव राष्ट्र के हित में नहीं होता। शिक्षित समाज की स्त्रियाँ भी कभी-कभी बच्चों में शांति स्थापित नहीं करवा पातीं। कभी-कभी तो ऐसा देखा गया है कि कुछ शिक्षित समाज की माताएँ अपने बच्चों में बदला लेने की प्रवृति बढ़ाती हैं। यह बात समाज के लिये अहितकर है।

अतः माताओं का कर्त्तव्य है कि वे अपने बच्चों को इस बात की शिक्षा दें कि वे आपस में न झगड़ें, गाली न दें तथा उनमें प्रेम व सद्भाव को बढ़ावा दें।

शान्ति से चित्त स्थिर रहता है इससे सोचने व समझने की क्षमता में वृद्धि होती है तथा बच्चे के दिमाग में मानसिक स्थिरता रहती है। इससे उसे अपनी पढ़ाई में हानि नहीं होती। आगे चलकर यही बच्चा देश के काम आता है। बच्चे के दिमाग में शांति व सद्भाव रहने से ही विभिन्न जाति के बच्चों में भी अच्छी मित्रता होती है। उनमें आपसी सद्भाव होने से देश में भावात्मक एकता बढ़ती है इससे देश शक्तिशाली होता है और राष्ट्रीय भावना में भी वृद्धि होती है। अतः माताओं, पिताओं व बच्चों के सम्बन्धियों का कर्त्तव्य है कि वे बच्चों को अच्छी शिक्षा के साथ उनमें शान्ति का प्रचार भी करते रहें।

: ४६ :

सच्ची मित्रता

विधाता ने इस सृष्टि में जितने भी प्राणी बनाये हैं, उनमें से किसी को भी अकेला नहीं बनाया है। विधाता को ज्ञात है कि कोई भी प्राणी अकेला रहकर अपनी जीवन यात्रा पूर्ण नहीं कर सकता। प्रत्येक को किसी न किसी स्थिति में तथा जीवन के किसी मोड़ पर अवश्य ही किसी सहयोगी की आवश्यकता होती है, विशेष रूप से सामाजिक प्राणी मानव को। यह सहयोगी किसी भी रूप में हो सकता है। स्वामी, सेवक, पति-पत्नी, भाई-बहिन, मित्र, माता-पिता ग्रादि अनेक प्रकार के सम्बन्धों से परिपूर्ण होकर मिल बँध कर वह प्राप्त होता है। इन सहयोगियों में से मित्र के अतिरिक्त सभी प्रकार के सहयोगी समाज में रहने के कारण स्वयं ही सम्बन्धी के रूप में सम्मुख आ जाते हैं वैसे मित्र भी समाज की ही देन हैं। पर प्रत्येक व्यक्ति को मित्र के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। ऐसा भी कुछ लोगों का अनुभव है कि समाज के अन्य घनिष्ठ से घनिष्ठ सम्बन्ध कभी-कभी आड़े समय पर साथ नहीं देते पर मित्र का सम्बन्ध आड़े से आड़े समय पर काम आ जाता है। वास्तव में मित्र की ऐसे ही समय पर आवश्यकता होती है और इसीलिये मित्र बनाया भी जाता है कि कभी वह मित्रता का मूल्य चुका सके।

प्रश्न उठता है कि जब मित्र आड़े से आड़े समय पर काम दे सकता है और वही मित्रता की कसौटी भी है तो मित्र का चुनाव कैसे हो। प्रत्येक मित्र, मित्रता का पूर्ण मूल्य चुकाने में असमर्थ होता है वह तो बिरला ही मित्र होता है जो अपने मित्र के लिये अपना सर्वस्व भी न्यौछावर करके मित्रता की लाज रखता है। अतः हमें बड़ी खोजबीन करके और परख करके मित्र बनाना चाहिये। प्रत्येक को जिसने लेश मात्र भी हमारे हित की बात कही मित्र नहीं बनाया जा सकता।

हमें बिना परखे और बिना व्यक्तित्व की जाँच किये तथा कसौटी पर कसे बिना किसी को मित्र नहीं बनाना चाहिये अन्यथा धोखा हो सकता है। किसी ने मित्रता की कसौटी की परिभाषा की है—पानी पीजे छानकर, मित्रता कीजे पहचान कर। हम कह सकते हैं कि पानी तो छान कर पिया जा सकता है लेकिन मित्र की पहिचान कैसे हो। इस पहिचान के लिये कुछ सिद्धान्त हैं जिनको आधार भूत मानकर यदि मित्र का चुनाव किया जाय तो सम्भवतः सच्चा मित्र मिल जाय। क्यों कि "जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ" के सिद्धान्त अनुसार मित्र को पहचानने में परिश्रम और समय दोनों ही लग सकते हैं। यह भी हो सकता है कि आप को अनायास ही सच्चा मित्र मिल जाय लेकिन ऐसा ईश्वर की कृपा के बिना नहीं हो सकता।

मित्रता की प्रथम कसौटी है विचार धारा। यदि समान विचार धारा वाला व्यक्ति कहीं टकरा जाता है तो वह बड़ा शीघ्र मित्र बन जाता है। मानवता इसकी दूसरी कसौटी है। मानवता के अन्तर्गत वास्तव में सभी वे गुण आ जाते हैं जो

एक यथार्थ मानव में होने चाहिये। यथा–दयालुता, स्वार्थहीनता कल्याणतः, सहयोग की भावना, वीरता, भक्ति सेवा भाव, कर्त्तव्य परायणता आदि। यह सभी भाव इस प्रकार के हैं कि जिनसे परिपूर्ण कार्य इस लोक में तो लाभदायक होते ही हैं परलोक में भी वे उचित समझे जाते हैं। इस प्रकार की विशेषतायें केवल मानव मात्र में ही हो सकती हैं, यह विशेष गुण न तो देवताओं में और न ही राक्षसों में होते हैं, पशुओं में होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिये मानव को विधाता की सर्वश्रेष्ठ कृति कहा जाता है। मित्र की अगली कसौटी है, उसके द्वारा समय-समय पर मार्ग से भटके हुए अपने मित्र को उचित सम्मति देना।

यह एक साधारण-सा सिद्धान्त है कि मित्रता समान कोटि के व्यक्तियों में ही सफल हो सकती है। सज्जन की मित्रता किसी सज्जन से ही निभ सकती है, किसी दुर्जन से नहीं। इसी प्रकार दुर्जन का निर्वाह दुर्जन के साथ ही हो सकता है वह किसी सज्जन के साथ एक क्षण भी नहीं निभ सकती।

मित्रता की इन कसौटियों को अब मित्र के गुणों के रूप में आँका जा सकता है। इन्हीं के आधार पर मित्र के गुण निश्चित किये जा सकते हैं। मित्र का सबसे बड़ा गुण होना चाहिये निस्वार्थता। वह अपने मित्र से किसी स्वार्थवत मित्रता न करे, क्योंकि जहाँ स्वार्थों का आदान-प्रदान प्रारम्भ हो जाता है वहाँ मित्रता की कड़ियाँ टूटने लगती हैं। मित्र को किसी अन्य से अपने मित्र की बुराई नहीं करनी चाहिये, उसी मित्र से उसके अवगुणों का बखान कर देना चाहिये, क्योंकि उसे गुणवान बनाना भी मित्र का ही कर्त्तव्य है। सच्चा मित्र वही है जो

जो अपने मित्र की बुराइयों का पर्दा फाश उसी के सम्मुख कर दे ताकि भविष्य में उसकी वे बुराइयाँ समाप्त हो सकें। मित्र को अपनी बुराइयाँ बताने वाले पर रोष भी नहीं करना चाहिये। क्योंकि उसमें उसी का भला है। कहा भी गया है–

"निन्दक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय,
बिन पानी, बिना साबुन उज्वल करै सुभाय।"

मित्र को कर्त्तव्य परायण भी होना चाहिये। कर्त्तव्य की बलि बेदी पर यदि उसके प्राण जाने की भी आशंका हो तो उसे अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं होना चाहिये। सहयोग तथा सहृदयता मित्र के अगले गुण हैं। मित्र का प्रेम प्रत्येक समय एक-सा रहना चाहिये। यह नहीं कि एक ही मित्र अपने समस्त गुणों का उपयोग करता रहे। अपितु उसका मित्र भी इसी प्रकार अपने गुणों तथा कर्त्तव्यों का पालन करने में कुशल हो, क्योंकि ताली दोनों ही हाथों से बजती है। जहाँ भी एक मित्र ने कुछ ढिलाई दिखाई वहीं दोनों की मित्रता में कटुता पहुँचना प्रारम्भ हो जायगी और एक स्थिति ऐसी आ जावेगी जहाँ मित्रता समाप्त ही हो जावेगी। साथ ही किसी समय में यह दोनों घनिष्ठतम मित्र एक दूसरे के घोर शत्रु भी हो जायेंगे। मित्रता एक दूसरे के प्रति आदान-प्रदान की भावना से ही चल सकती है। यही आदान-प्रदान का मूल-आधार है। मित्रता रूपी नदी तो आदान-प्रदान रूपी दोनों कगारों के मध्य ही बह सकती है। जहाँ एक भी कगार टूटा, वही अनर्थ हो जायगा।

कपट भावना के उत्पन्न होते ही मित्रता समाप्त होने लगती है। तुलसीदासजी ने कहा भी है–'-देखहु प्रीति की रीति भल, विलग हो रस जाय, कपट खटाई परत ही।" इस कपट

के जाग्रत होते ही मित्रता में कटुता उत्पन्न हो जाती है। यह कपट वहीं होता है जहाँ लेश मात्र भी किसी स्वार्थ को लेकर आगे बढ़ा जाय। जैसे मित्र के घर अधिक आना-जाना बनाकर उसकी पत्नि आदि से अधिक श्रौर दूसरे प्रकार की घनिष्टता स्थापित कर लेना, परस्पर धन का अधिक लेन-देन करने लगना। यह बात याद रखने योग्य है कि कंचन, कामिनी यही दो वस्तुएँ ऐसी हैं जिनके बीच में आते ही घनिष्ठ से घनिष्ठ सम्बन्ध और मित्रता भी टूट जाती है, यहाँ तक कि पिता-पुत्र, भाई-भाई में, पति-पत्नि में सम्बन्ध टूट जाते हैं। अतः इस प्रकार की भावनायें मित्रों के मध्य में आने ही नहीं देनी चाहिये। साथ ही एक बात श्रौर ध्यान रखने योग्य है और वह यह कि दुर्व्यसनी, अहंकारी, मूर्ख और स्वार्थी मित्र कहलाने वाले जो मित्रता के नाम पर वास्तव में कलंक लगाने वाले होते हैं, लोगों से तो भूलकर भी मित्रता नहीं करनी चाहिये। मित्रों को तो पारस्परिक बड़े-बड़े बलिदानों की आवश्यकता होती है। बलिदान लेकर ही और निस्वार्थ बनकर ही सच्ची मित्रता चल सकती है।

: ४७ :

घृणा

मनुष्य ही नहीं प्रत्येक प्राणी का जीवन अनुभूतियों के द्वन्द्व से प्रारम्भ होता है। शिशु के हृदय में भी केवल सुख और दुःख इन्हीं दो अनुभूतियों के लिए स्थान होता है। समझ आने पर इन्हीं अनुभूतियों के परिणामस्वरूप 'हँसना' और 'रोना' देखे जाते हैं। जैसे-जैसे बच्चा बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे उसकी ये अनुभूतियाँ मनोविकारों या भावों में परिणत होती जाती हैं, जो असंख्य हैं। यथा घृणा, प्रेम, भय, क्रोध, उत्साह, हास, आश्चर्य. प्रेम, निर्वेद, वात्सल्य, ग्लानि, मद, मोह, शंका, आलस्य, धैर्य, उन्माद, दैन्य, चापल्य, गर्व, हर्ष, उग्रता इत्यादि। इनमें से कुछ मनोविकार तो क्षणिक हैं तथा कुछ स्थायी। इनमें से प्रत्येक के ऊपर एक-एक ग्रन्थ लिखा जा सकता है, पर इस समय हमारा सम्बन्ध केवल 'घृणा' नाम के मनोविकार से अति संक्षिप्त रूप से है। क्योंकि विस्तृत रूप से लिखने के लिये न तो समय है, और न ही स्थान, और यदि विस्तृत रूप से लिखने का मैं प्रयास भी करूँ तो हमारे पाठकों के पास उसे पढ़ने के लिये समय का भी अभाव है। इसलिये मैं संक्षिप्त रूप में ही इस सबसे विकट मनोविकार पर प्रकाश डालने का प्रयास करूँगा।

सृष्टि जब से प्रारम्भ हुई है, तभी से प्राणियों को कुछ

वस्तुएँ रुचिकर तथा कुछ अरुचिकर प्रतीत होती रही हैं। ज्ञान के वर्ग से अरुचिकर विषयों को दूर रखने वाला जो दुःख होता है, उसे घृणा कहा जा सकता है। या जब मनमुटाव या द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है, तो वह घृणा के रूप में क्रमशः परिवर्तित होने लगता है। उदाहरणार्थ अधिकार छिन जाने पर, हानि पहुँचाये जाने पर हमारे हृदय में निश्चित रूप से द्वेष का भाव जाग्रत होगा, जो कुछ समय बाद घृणा में परि-परिवर्तित हो जायगा, और हम हानि पहुँचाने वाले को मौत के घाट उतारने में भी नहीं चूकेंगे।

वास्तव में घृणा दो प्रकार से अनुभव की जा सकती है। एक स्थूल इन्द्रियों द्वारा अर्थात कान, नाक, आँख इत्यादि से तथा दूसरे मानसिक भावों द्वारा। उदाहरणार्थ हमें यदि कोई चपटी नाक वाला, भोंडे मुँह वाला, काले और कुरूप चेहरे वाला व्यक्ति दिखाई पड़ेगा, तो क्या हम उससे प्रेम करेंगे। दुर्गन्धपूर्ण स्थान पर जाते ही घृणा के कारण नाक बन्द कर लेते हैं, इत्यादि। ये सब इंद्रियों से ज्ञात होने वाली घृणा है। मानसिक घृणा प्रतिकूल और बुरे विषयों के उत्पन्न होने से पैदा होती है। जैसे सभ्य स्त्री के सम्मुख यदि निर्लज्जता पूर्वक हाव-भाव प्रगट किये जायें या घोर-शृङ्गार से पूर्ण गीत गाये जायें तो निश्चित रूप से वह सभ्य स्त्री घृणा के कारण एक मिनट भी आपके सम्मुख खड़ी नहीं रह सकती। कुछ लोग कह सकते हैं कि यह तो क्रोध के अन्तर्गत भी आ सकता है, पर नहीं। क्रोध में पीड़ा या हानि पहुँचती है, जिससे क्रोधी उसे नष्ट करने का प्रयास करता है, जब कि घृणा में इतनी अधिक उग्रता नहीं आने पाती। हाँ, घृणा भी कभी-कभी क्रोध का रूप धारण कर लेती है। जैसे कोई गंदा व्यक्ति आपके सामने आ

जाता है, तो आप घृणा से अपना मुख फेर लेंगे, लेकिन वह फिर बार-बार आपके मुख के सामने आकर खड़ा होता है तो निश्चित रूप से आप क्रोध के कारण उस पर बरस पड़ेंगे और हो सकता है कि गाली-गलौज के अतिरिक्त आप उसके हाथ-पैर भी तोड़ डालें। यदि कोई स्त्री आपसे बुरा प्रस्ताव करे तो आपको घृणा होगी, पर कुछ समय उपरान्त यदि वही स्त्री आपके ऊपर हाथ उठावे तो आपको क्रोध आ जावेगा, और हो सकता है कि आप क्रोध में बुरा-भला कहने के अतिरिक्त उसे मार भी बैठें। वास्तव में घृणा अलग हटाने के भाव से सम्बन्धित है, जिसे 'निवृत्ति' कह सकते हैं, और क्रोध उसमें लीन हो जाने के भाव से सम्बन्धित है, जिसे 'प्रवृत्ति' कह सकते हैं।

शिक्षा, पारिवारिक स्थिति, संस्कार आदि के कारण प्रत्येक व्यक्ति पर घृणा आदि का प्रभाव समान रूप से नहीं पड़ता। यह आवश्यक नहीं कि जिस वस्तु अथवा स्थिति से एक शिक्षित और उच्च परिवार का व्यक्ति घृणा करे, उससे एक अशिक्षित और नीच व्यक्ति भी घृणा करे।

ठर्रा (शराब) पीकर एक रिक्शावाला या मजदूर जो पूर्ण रूप से अशिक्षित और बुरी सोहबत में रहता है, सड़क की नालियों में पड़े रहने को भी घृणित कार्य नहीं समझता, जबकि एक उच्च व्यक्ति के लिए इस प्रकार की कल्पना करना भी घृणित है।

'घृणा' से बड़ी-बड़ी हानियाँ हो सकती हैं। परिवार के परिवार घृणा के कारण ही मुकदमेबाजी, लट्ठबाजी या इसी प्रकार की बाजियों में तबाह हो जाते हैं। दसियों-बीसियों

हत्यायें हो जाती हैं। मस्तिष्क एक का ही नहीं अपितु इन सभी का असंतुलित हो जाता है। एक दूसरे की शक्ल नहीं देखना पसन्द करते, इससे कहीं अच्छा मर जाना समझते हैं। घृणा के कारण गाँव के गाँव, शहर के शहर फूँक दिये जाते हैं। १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के बाद अंगरेजों के हृदय में भारतीयों के प्रति घृणा ही उत्पन्न हो गई थी जिसके परिणाम स्वरूप उन्होंने गाँव के गाँव फुँकवा डाले और न जाने कितने अत्याचार इसी (घृणा) नामक मनोविकार के वशीभूत होकर किये।

यह घृणा कभी-कभी तो स्वभाव का रूप ले लेती है। मनुष्य लाचार हो जाता है, प्रत्येक उस वस्तु से घृणा करने के लिये जो उसे पसन्द नहीं है और जब बार-बार इस प्रकार की वस्तुएँ सम्मुख आवेंगी तो मानसिक रोग तो उसे हो ही जावेगा। साथ ही शारीरिक रोग भी उसे लग जावेंगे। उसका मस्तिष्क प्रत्येक समय असन्तुलित रहेगा। शरीर में एक उत्तेजना और खिचाव सा बना रहेगा। भोजन भी अच्छा नहीं लगेगा। जो भोजन भी वह करेगा उसे भली भाँति पचा नहीं पावेगा। क्योंकि खिचाव के कारण पाचन ग्रन्थियाँ अपना कार्य बन्द कर देंगी। जब पाचन-क्रिया नहीं होगी तो रक्त बनना कम हो जायगा। रक्त कम बनने से रक्त चाप, मधुमेह, दमा, हृदय रोग अनेक रोग लग जावेंगे।

यह बात नहीं कि यह 'घृणा' की भावना केवल बड़ी उम्र के व्यक्तियों को ही होती है, अपितु यह छोटे-छोटे दुधमुंहे बच्चों के अन्दर भी जाग्रत हो जाती है। उदाहरणार्थ बच्चे की माँ की गोद में यदि कोई अन्य बच्चा या उसी के छोटे या बड़े भाई-बहिन आ जायें तो वह उन्हें घृणा की दृष्टि से देखने लगेगा और हो सकता है कि किसी प्रकार से वह बदला लेने

का भी प्रयास करे। हाल की ही एक घटना इसी प्रकार की है। एक ४-५ वर्ष के नासमझ बच्चे ने अपने छोटे भाई का गला इसीलिये घोट दिया कि वह माँ की गोद में पहले ही भागकर पहुंच जाता था। इस तरह बड़े बच्चे ने अपने ही छोटे भाई से बदला ले लिया। यह घृणा की ही करामात थी। इस प्रकार के अनेक उदाहरण घृणा के मिल सकते हैं और यदि खोज की जाय तो प्रत्येक हत्या, मार-पिटाई आदि की जड़ में घृणा ही मिलेगी।

आप सम्भवतः अब अनुमान लगा सकते हैं कि घृणा कितनी भयंकर वस्तु है और इससे क्या-क्या हानियाँ हो सकती हैं इसलिये यही श्रेष्ठ है कि हम अपने हृदय में घृणा का प्रवेष ही न होने दें। उसे प्रत्येक कीमत पर दूर ही रखें। जिसके हृदय में घृणा नहीं होगी वह मानसिक और शारीरिक दोनों ही रोगों में स्वस्थ रहेगा। क्रोध, पीड़ा इत्यादि भी उसके हृदय में उत्पन्न नहीं होंगे। इसलिए हम कभी भी किसी प्राणी से घृणा न करें इसी में हमारा, हमारे समाज का, हमारे देश का तथा विधाता की सृष्टि का कल्याण है। प्रत्येक को अपना-अपना कार्य करने दें, जिस प्रकार से वह चाहे। किसी ने कहा भी है :—

"विधि के बनाए जीव जेते है जहाँ के तहाँ,
खेलत फिरत, तिन्हें खेलन फिरन देव।"

मैं जानता हूँ कि इस प्रकार के विषय बड़े नीरस होते हैं। पाठकों को लेश मात्र भी आनन्द नहीं आया होगा, पर मैंने एक भयंकर मनोविकार के विषय में अपने विचार रखकर अपने कर्त्तव्य को निभाया है। यों यदि इस विषय पर मनन किया जाय तो सभी को इस कथन में सत्यता दृष्टिगोचर होगी।

: ४८ :

गणतन्त्र-दिवस

(२६ जनवरी १९६९ को दिए गये भाषण के कुछ अंश)

यह हम सब लोगों के लिए बड़े सौभाग्य का विषय है कि प्रतिवर्ष की भाँति आज भी हम धूम-धाम से गणतन्त्र दिवस मना रहे हैं। अंग्रेजों की लगभग ३५० वर्षों की परतन्त्रता से हम १५ अगस्त सन् १९४७ को मुक्त हुए थे। सन् १९५० तक हमारा और देश का सम्पूर्ण ढाँचा अंग्रेजों की भाँति रहा, २६ जनवरी १९५० को हमारा देश पूर्ण गणतन्त्र बना जिसकी वर्षगांठ हम प्रतिवर्ष मनाते हैं और इसी दिन से हमें प्रजातन्त्र (डेमोक्रेसी) शासन मिला।

स्वतन्त्र तथा पूर्ण गणतन्त्र भारत में २६ जनवरी तथा १५ अगस्त राष्ट्रीय पर्व के रूप में मान लिये गये हैं, जो पूर्ण राजकीय सम्मान के साथ प्रतिवर्ष मनाये जाते हैं, भारतीयों के लिए ये पर्व उसी प्रकार हैं, जैसे जन्माष्टमी, राम नवमी, दीपावली, होली आदि जो उसी उत्साह एवं प्रसन्नता के वातावरण में मनाये जाते हैं। ये सभी पर्व प्रायः किसी न किसी संस्कृति अथवा इतिहास के अंश से जुड़े हुये हैं।

यह गणतन्त्र दिवस का राष्ट्रीय पर्व मनाने का एक तो उद्देश्य यही है कि हम प्रतिवर्ष इसे मनाकर उसकी स्मृति

दुहरा लेते हैं। लेकिन इसे मनाने का मुख्य उद्देश्य कुछ और ही है। इसे मनाते समय हम अपने इतिहास के पृष्ठों को उलटते हैं और स्मरण करते हैं कि किस प्रकार हम कितने वर्षों तक परतन्त्र रहे, कितने दुःख हमें इस परतन्त्रता में उठाने पड़े, स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये कितने त्याग किये, कितने बलिदान देने पड़े और अब बेशकीमती स्वतन्त्रता की रक्षा कैसे करें ताकि वह हमारा साथ कभी न छोड़ सके। हिन्दू धर्म में प्रति पूर्णिमा को सत्य नारायण की कथा कराई जाती है, भागवत, श्रीराम चरित मानस, गीता, उपनिषद, वेद शास्त्रों आदि की कथा समय-समय पर होती है, इनका उद्देश्य यही है कि हम समझ सकें कि हमारे क्या कर्त्तव्य हैं। चरित्र निर्माण कैसे करें, दैवी सम्पदा किस प्रकार अपने अन्दर लावें। परमार्थ कैसे करें? ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्त तथा सन्यासाश्रम में किस प्रकार आचरण करें इत्यादि। ठीक इसी प्रकार गणतन्त्र दिवस को भी प्रतिवर्ष मनाने का उद्देश्य है। बार-बार मनाने से हम गणतन्त्र और स्वतन्त्रता का अर्थ समझ जाते हैं। यदि इसे प्रतिवर्ष दुहराया न जाय तो हम एक दिन पूर्णतया उसे भूल जावेंगे।

गणतन्त्र राज्य की अनेक विशेषताएँ होती हैं। यदि इन सभी विशेषताओं पर हम आचरण करें तो देश स्वर्ग हो सकता है। संसार के सभी राजनीतिज्ञ सच्चे प्रजातन्त्र राज्य की सराहना करते हैं। इससे प्रजा स्वयं अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से अपना शासन करती है, वही कानून बनाती है वही उसे लागू करती है और वह अपराधियों को दण्ड देती है।

प्रजातन्त्र जो हमें प्रथम गणतन्त्र दिवस से प्राप्त हुआ है, अनेक गुण दोष हैं, अच्छाई-बुराई दोनों ऊँची और श्रेष्ठतम

वस्तुओं से होती है। प्रजातन्त्र की बुराइयाँ सरलता पूर्वक दूर हो सकती हैं। इसके गुण हैं:—१–प्रजा अपनी इच्छानुसार शासन कर सकती है। २–सभी को समानता और स्वतन्त्रता का अधिकार होता है। ३–प्रत्येक व्यक्ति देश के शासन में भाग ले सकता है और इस प्रकार वह आत्मगौरव का अनुभव करता है। ४–सभी को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त हो जाती है और वह आवश्यकतानुसार देश के लिए त्याग और कष्ट सहन कर सकता है। ५–किसी प्रक.र की क्रांति का भय बहुत कम रहता है क्योंकि शासन को इच्छानुसार जब चाहे तब बदल सकते हैं।

इस शासन में कुछ बुराइयाँ भी हैं जैसे—१–सम्पूर्ण जनता समान रूप से अपने हितों को नहीं पहचान सकती, क्योंकि बुद्धि सबकी बराबर नहीं होती। २–अवसरवादी तथा पद-लोलुप व्यक्ति अनुचित लाभ उठाते रहते हैं। चुनाव के समय झूंठी-झूंठी प्रतिज्ञाएँ करते हैं, गलत सिद्धान्तों पर पार्टियाँ बनाकर स्वयं को प्रतिनिधि निर्वाचित करा लेते हैं और फिर प्रजा का हित भूलकर स्वार्थ-साधन में लग जाते हैं इत्यादि। इसीलिए कुछ लोगों ने प्रजातन्त्र सरकार को मूर्खों का राज्य कहा है। इस प्रकार कहने का प्रमुख कारण इसके दोष ही हैं।

परिणाम स्वरूप आज प्रजातन्त्र और जनतन्त्र के स्थान पर असुर तन्त्र आ गया है। जितने भी दोष उत्पन्न हो सकते थे वे सब हो चुके हैं। व्यक्तिगत स्वार्थ अधिक हो गया है, देश का हित समाप्त हो गया है। नेता लोग आलस्य में फँस कर पारस्परिक मन मुटाव, लड़ाई झगड़े आदि के भ्रम जाल में फँसकर बुद्धिहीन हो गये हैं। भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता,

मिथ्याचार आदि बढ़ गये हैं। अनेक पार्टियाँ बन गई हैं जो परस्पर लड़ती रहती है और एक दूसरे को समाप्त करने का प्रयास करती है। अनेक वाद जैसे भाषा वाद, उत्तर-दक्षिण वाद आदि का बोल बाला बढ़ता जा रहा है। नये-नये प्रदेश इन्हीं आधारों पर बन रहें हैं ताकि अधिक नेताओं को उनमें नेता-गिरी करने का अवसर मिले इत्यादि। यह सब क्या जनतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र के गुण हैं ? कदापि नहीं।

इतिहास से ज्ञात होता है कि महाभारत के उपरान्त भारत में अनेक प्रकार के अनेक राज्य बने। अनेक बाहरी शासकों ने भी यहाँ शासन किया। एकता न रहने के कारण विदेशी आक्रमणकारियों ने अवसर से लाभ उठाया और घुस बैठे। पारस्परिक वैमनस्य तथा विदेशी आक्रान्ताओं के कारण देश फिर टुकड़ों में विभाजित हो गया। धीरे-धीरे अंग्रेजों का शासन आया। उन्होंने यह भली प्रकार समझ लिया कि देश में विविध राज्यों में पारस्परिक वैमनस्य और लड़ाई झगड़ों के कारण ही हमारा राज्य आया है, इसलिये इस पौलिसी को बनाये रखना चाहिए। उन्होंने इसीलिए स्थान-स्थान पर छोटे छोटे राजाओं तथा जमींदारों आदि को प्रोत्साहन दिया तथा उन्हें अपनी छत्रछाया में रखा। कभी वंश की समाप्ति पर ही उस राज्य को अपने राज्य में मिला लेते थे। लेकिन अपनी केन्द्रीय सत्ता उन्होंने बड़ी शक्तिशाली रखी ताकि अवसर आने पर राज्यों को कुचला जा सके।

क्रमशः उन्होंने राज्यों को भी कुछ अधिकार देकर प्रजातंत्र का सहनाटक रचा। लेकिन वहाँ भी अपना गवर्नर (पोलिटिकल एजेन्ट) आदि रखकर उसे शक्तिशाली रखा। आज का गणतन्त्र

कुछ भिन्न प्रकार का है और वास्तविक अर्थों में कुछ सच्चा जनतन्त्र कहा जा सकता है। लेकिन अंग्रेजों के अनुसार ही केन्द्रीय सत्ता को शक्तिशाली रखा है। वास्तव में गणतन्त्र कोई बुरे प्रकार का राज्य नहीं है। बड़े अच्छे प्रकार का शासन है। शर्त यही है कि सभी लोग निःस्वार्थभाव से कार्य करें।

देश की रक्षा करना हम सब का परम कर्तव्य है। देश यदि सुखी है तो वहाँ का प्रत्येक नागरिक सुखी है। देश परतन्त्र हो गया तो वहाँ का प्रत्येक व्यक्ति दास हो जायगा। अतः हम त्याग द्वारा प्रदेशवाद, भाई-भतीजा वाद, भाषा वाद, हिन्दू-मुसलिम वाद, सिख-ईसाई वाद, उत्तर-दक्षिण वाद आदि को दूर रखें। देश हित की भावना को सबसे ऊपर रखें तथा अपनी भावनाओं को निष्कपट सच्ची और त्यागमयी रखें। विदेशी आक्रांताओं को देश में पैर न रखने दें। जो भी हमारी भारत मां का अपमान करे, उसका सिर काट लेना चाहिए, भले ही हमारे प्राण चले जायें। माता के सुपुत्र वही कहलाते हैं जो माता की सेवा करें तथा जान देकर भी उसकी रक्षा करें अन्यथा वे कुपुत्र ही कहलावेंगे।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि माता अपने पुत्रों से उनकी बुराइयों के कारण अप्रसन्न भी हो जाती है लेकिन कब तक अप्रसन्न रह सकती है ? कभी न कभी उसे दया आयेगी ही। तब वह अपनी गोद में अवश्य बिठा लेगी। ठीक इसी प्रकार हमारी भारत माता पिछले कई सौ वर्षों से अपने कुपूतों से अप्रसन्न थी क्योंकि वे परस्पर लड़ा करते थे, लेकिन स्वतंत्रता के उपरान्त भारत मां प्रसन्न हो गई क्योंकि उसके उन्हीं कुपुत्रों ने उसकी परतन्त्रता की बेड़ियों को तोड़ा। आज फिर उसने

हमें अपनी गोद में बिठा लिया है और पिछले सभी पापों को क्षमा कर दिया है और प्रसन्न हो गई है। हमारा अब यह परम धर्म हो गया है कि अपनी प्रसन्न भारत मां को फिर रुष्ट न होने दें और सच्चे अर्थों में सुपुत्र बनकर रहें। तन-मन-धन तीनों को उसके लिये न्यौछावर कर दें। जातिवाद, सम्प्रदाय वाद, दलबन्दी आदि सभी को छोड़कर निष्कपट रूप से उसकी सेवा करते रहें और रक्षा करते रहें। यदि हम सब सच्चे देश भक्त बने रहे तो चीन, पाकिस्तान आदि विदेशी आक्रांता कभी भी हमें पद दलित नहीं कर सकते। हम उन शत्रुओं का कठोरता से मुकाबला कर सकेंगे। किसी ने कहा भी है :—

तीन बिगाड़े देश को, कपटी, कायर, क्रूर,
तीन सुधारे देश को संत, सती और सूर।

ठीक ही लिखा है, स्वार्थ, कपट, कायरता आदि देश को ले डूबते हैं और निस्वार्थता, शूरता आदि उसी देश को ऊँचा उठा देते हैं।

आज के प्रजातन्त्रवादी देश अपनी स्वार्थ रक्षा के लिये कुछ भी करें, परन्तु सिद्धान्त रूप में उन्हें यह मानना पड़ता है कि सरकार का उद्देश्य केवल कानून बनाना और हुक्म चलाना ही नहीं है। व्यक्ति के अन्दर उन्नति की सारी शक्तियाँ मौजूद हैं, लेकिन वे तब तक कार्य नहीं कर सकतीं जब तक उनके लिये एक विशेष प्रकार का वातावरण न बनाया जाय। जनतन्त्र सरकार का कार्य वास्तव में यही वातावरण बनाना है।

हम देश वासियों को तो देश की रक्षार्थ सभी कुछ त्याग देना चाहिए। देश ही हमारे लिये स्वर्ग है। देश से ही

हम पहचाने जाते हैं और देश ही हमारा उत्थान, पतन सम्बन्धित है। किसी ने कहा है :

देश धर्म है, देश कर्म है, देश ही जीवनाधार रे।
देश अगर उठता है तो हम सबका उत्थान रे।
अपना-अपना स्वार्थ छोड़कर करें देश का ध्यान रे।
देश अगर धनवान रहेगा, हम सब भी धनवान रे।
देश अगर बलवान बनेगा, हम सब भी बलवान रे।
देश धर्म है देश कर्म है, देश ही जीवनाधार रे।

इस प्रकार यदि हमारे अन्दर एकत्व की भावना रहेगी, तो हम देश की स्वतन्त्रता की रक्षा भली-भाँति कर सकेंगे। केवल सेना, पुलिस आदि के द्वारा ही देश की रक्षा नहीं हो सकती। अपितु देशवासियों की एकता से भी देश की रक्षा होती है। भाइयों, यह हम सभी देशवासियों का पावन कर्त्तव्य है कि हम तन-मन-धन से अनेक बलिदानों के बाद प्राप्त हुई स्वतन्त्रता की रक्षा करें और आज के दिन यह व्रत लें। तभी हमारी स्वतन्त्रता अमर रह सकती है।

: ४९ :

निराशा पर विजय

निराशा एक प्रकार का मनोभाव है। मनोभाव वास्तव में सुख-दुख की मूल अनुभूति और उसके द्वारा विषय भेद से उत्पन्न होते हैं। प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, भय, क्रोध, घृणा, निराशा आदि इसी प्रकार से उत्पन्न मनोभाव या मनोविकार हैं। इसी प्रकार के मनोभाव मानव-जीवन के प्रवर्तक माने जाते हैं।

निराशा मनोभाव तभी उत्पन्न होता है, जबकि किसी की आशा पूर्ण नहीं होती, या उस स्थिति और दशा तक पूर्ण नहीं होती, जिस स्थिति और दशा में उसे पूर्ण होने की आशा होती है।

यह विश्व तरह-तरह के मनोभाव वाले मानवों से परिपूर्ण है। कोई कार्य करनें के लिये प्रत्येक को किसी न किसी पर विश्वास करना ही होता है। हाँ ! बुद्धिमान लोग विश्वसनीय व्यक्ति को बड़ी सावधानी से चुनते हैं, क्योंकि यदि विश्वसनीय व्यक्ति का चुनाव गलत हो गया तो बाद में पछताना ही पड़ता है और कार्य पूर्ण न होने पर निराशा के तथा पश्चाताप के बादल उमड़ने लगते हैं। विश्वास योग्य मानव के अतिरिक्त इसी प्रकार इसी ढंग से अन्य विषयों तथा वस्तुओं का भी

चयन होता है। यथा भूमि खंड का, राजनीतिक दल का, जीवन वृत्ति का, व्यापार का, नौकरी का। एक बार इनका जब चयन कर लिया जाता है और बाद में ज्ञात होता है कि चयन गलत हो गया, जो हानिकारक भी सिद्ध हो सकता है, तो चयन करने वाले को बड़ी वेदना होती है, तथा क्रमशः निराशा के चंगुल में फँसने लगता है। कभी-कभी यह निराशा इतनी भयंकर हो जाती है कि निराश व्यक्ति के पास आत्महत्या के अतिरिक्त कोई अन्य साधन नहीं रहता। इसी निराशा के कारण राष्ट्रों में युद्ध तक हो जाते हैं और हजारों लाखों व्यक्तियों का संहार हो जाता है।

उपर्युक्त तथ्य से स्पष्ट है कि निराशा एक महाप्रलयंकारी रोग है। जिसे यह लग गया वह बच नहीं सकता। इस भयंकर रोग को रोकने के लिए कोई न कोई उपाय करना चाहिए। मेरी राय में सर्व सुलभ और सर्व सरल उपाय 'प्रभु पर विश्वास' ही है। वास्तव में जिसका प्रभु में पूर्ण विश्वास होता है, उसके मस्तिष्क में भी पूर्ण विश्वास होता है। उसके मस्तिष्क में सदा शान्ति और शक्ति बनी रहती है। इसी शक्ति से वह बड़े से बड़ा धक्का सहन कर सकता है। एक शायर ने कहा है इसी ईश्वरीय शक्ति के विषय में—

मुशकिल पड़ी तो क्या, मुशकिल कुशा तो है।
सिर पर पड़ी तो क्या, सिर पर खुदा तो है।

आज के पाश्चात्य विचार धारा के लोग ईश्वर पर विश्वास नहीं करते, लेकिन यह अनुभव की बात है कि जब आज का मानव, विशेषतः युवक वर्ग चारों ओर से आपत्तियों में घिर

जाता है, विविध प्रकार की मुसीबतों और कष्टों से ग्रसित हो जाता है, तो वह ईश्वर को न मानने वाला होते हुए भी ईश्वर की ओर झुकने लगता है और जब पूर्णतः वह ईश्वरीय शक्ति और भक्ति के आधीन हो जाता है तो ईश्वर उसकी किसी न किसी माध्यम से सहायता करता है। यही हमारी प्राचीन धारा है। विविध व्रतों में, कथाओं में, आख्यायिकाओं में इसी प्रकार के अडिग विश्वास की भावना प्रदर्शित की गई है। यह विश्वास इतना दृढ़ होता है कि यदि भक्त को अथवा विश्वासी को किसी कार्य में सफलता नहीं मिलती तो वह उसमें ईश्वर का कोई दोष नहीं समझता अपितु वह यही सोचता है कि उसकी स्वयं की कार्य प्रणाली में कहीं त्रुटि रह गई है।

एक बात और है और वह यह कि असफलता मे जब स्वाभाविक रूप से क्रोध, उदासीनता और दुख की भावनाएँ आती हैं तो ऐसा मन करने लगता है कि इस कार्य को छोड़ ही दिया जाय, लेकिन ऐसा नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा सोचकर कार्य को छोड़ दिया जाता है, तो और अधिक हानि की सम्भावना होती है। उस कार्य को तो ईश्वर पर पुनः विश्वास कर उसी सबलता से करना चाहिए और एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा कि वह कार्य निश्चित रूप से पूरा हो जावेगा।

विश्वास की यह भावना मानव पर आये हुये विविध संकटों को झेलने में सहायक होती है तथा यही विश्वास कार्य में जुटे रहने के लिए पर्याप्त होता है। मनुष्य जब सत्य का पालन करेगा, प्रभु में विश्वास रखेगा, अपना कार्य ईमानदारी और सचाई से करेगा तो निश्चित रूप से उसमें ईश्वरीय शक्तियां जाग्रत

होकर उसके इस प्रकार के कार्यों में सहायता देंगी और परिणाम यह निकलेगा कि दुर्भाग्य-सौभाग्य में, दुख-सुख में, असफलता-सफलता में परिवर्तित हो जायगा।

वास्तविकता तो यह है कि जो जैसा बीज बोता है, उसी प्रकार की फसल को काटने का वह अधिकारी होता है। यदि वह क्रोध, ससंयम, संशय, अविश्वास के प्रति आस्था रखेगा तो भविष्य में उसे यही बातें हाथ लगेंगी। यदि अच्छे और प्रेम पूर्ण वातावरण में उसका विश्वास होगा तो निश्चित रूप से वह भविष्य में इसी प्रकार की विशेषताओं से परिपूर्ण रहेगा।

उक्त कथन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि यदि सत्य, प्रेम, विश्वास आदि को निष्ठापूर्वक ग्रहण करते रहेंगे तो संसार में कोई भी ऐसा कारण नहीं रह सकता, जो निराशा को जन्म दे सके। निराशा जड़ से ही समाप्त हो जायगी। मानव पर आई विपत्तियों को ईश्वरीय देन समझकर प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण करने से मन में शान्ति रहती है और निराशा का प्राबल्य समाप्त हो जाता है। जितना अधिक विश्वास ईश्वर में होगा, उतना ही अधिक सम्बन्ध ईश्वर से जुड़ जायेगा और जितना अधिक सम्बन्ध ईश्वर से स्थित होगा उतना ही अधिक सुख और शांति का अनुभव कर पावेंगे और निराशा का अन्त होगा। अतः निराशा पर विजय प्राप्ति के लिए 'ईश्वर में विश्वास' रखना ही सर्वश्रेष्ठ औषधि है।

: ५० :

परिश्रम

भारतवर्ष कृषि प्रधान राष्ट्र है। यहाँ कभी सूखा, कभी अति वर्षा, कभी कीड़े आदि, फसल में लगते रहते हैं। परिणाम स्वरूप सदा ही निर्धनता सी छायी रहती है। अति प्राचीन काल से भारत के नेताओं के सम्मुख यह प्रश्न मुँह खोले खड़ा रहता है कि यहाँ के निवासियों की निर्धनता को कैसे दूर किया जाय। जब यहाँ के रहन-सहन और कार्य क्षमता आदि की तुलना अन्य राष्ट्रों के निवासियों से करते हैं, तब हमें ज्ञात होता है कि हम किस स्तर पर हैं।

भारत की इस निर्धनता को दूर करने के लिये अनेक प्रकार की विचार धारायें प्रस्तुत की जाती हैं। कुछ लोगों का मत है कि देश में जो धनवान व्यक्ति हैं उनसे कुछ धन लेकर निर्धनों को बाँट दिया जाय। कुछ लोग कहते हैं कि धनवान लोगों से धनवान होने के साधन छीनकर निर्धनों को दे दिये जायें। कुछ लोगों के अनुसार धनवानों पर कर (टैक्स) अधिक लगाया जाये और अधिक धन उनसे एकत्र करके उनके स्रोतों पर रोक लगाई जाये ताकि धनवान और अधिक धनवान न हो सकें और निर्धन और अधिक निर्धन न हों।

लेकिन ये सभी बातें इसी बात की ओर संकेत करती

हैं कि धनवान को निर्धन बना दिया जाय, पर इनमें इस बात का संकेत कहीं भी नहीं मिलता है निर्धन धनवान बनाये जायें।

यह विश्व का नियम है कि प्रत्येक देश में धनवान और निर्धन, बड़े और छोटे सदा होते रहे हैं और होते रहेंगे क्योंकि सर्वत्र और सदैव ही कर्म को प्रधानता का सिद्धान्त रहा है। यदि कर्म की प्रधानता पर विश्वास न किया जाय तो सभी मानव समान ही होने चाहियें; पर ऐसी बात है नहीं। कोई मनुष्य शक्तिशाली है, कोई दुर्बल है, कोई निर्बल है, कोई धनवान है, कोई शिक्षित है, कोई अशिक्षित है, किसी का समाज में बहुत उच्च स्थान है और किसी का बहुत निम्न स्थान। सिद्धान्त को मानने के कारण ही एक बी० ए० पास व्यक्ति क्लर्क भी है, मिनिस्टर भी है, कलक्टर भी है, व्यापारी भी है और अध्यापक भी है। सभी की आय के साधन अलग-अलग हैं। किसी को केवल सौ रुपये माहवार मिलते हैं, किसी को हजारों रुपये मिलते हैं और कोई लाखों में खेलता है।

यदि उक्त तरीकों पर विचार और मनन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म के आधार पर ही उक्त वितरण हुआ है। कर्म से तात्पर्य केवल पिछले जन्म के कर्मों से ही नहीं वरन् इसी जन्म के कर्म भी मानव की उन्नति और अवनति में सहायक होते हैं। आज जितने भी राष्ट्र उन्नति कर रहे हैं उनका मूल कारण कर्म और परिश्रम ही है। कुछ राष्ट्रों के निवासी केवल भाग्य और पिछले जन्म के कार्यों पर ही विश्वास रखकर अपनी अवनति तो करते ही हैं साथ ही अपने राष्ट्र की अवनति में भी सहयोग देते हैं।

रूस, अमेरिका, इंगलैंड, चीन, जापान आदि ऐसे उच्च

प्रकार के राष्ट्र हैं जहाँ के निवासियों ने परिश्रम करके अपने देश से निर्धनता को जड़ से निकाल फेंका है। यदि इन राष्ट्रों के इतिहास पर मनन किया जाय तो यही राष्ट्र कुछ समय पूर्व अत्यधिक निर्धन थे। चीन जैसे उन्नतिशील और शक्तिशाली राष्ट्र के निवासी कुछ समय पूर्व अफीम के नशे में धुत्त तो पड़े ही रहते थे साथ ही वे किसी प्रकार का परिश्रम कर सकने में भी असमर्थ थे। लेकिन आज वही राष्ट्र ऐसा शक्तिशाली हो गया है कि विश्व के किसी भी राष्ट्र से टक्कर ले सकता है।

इसी प्रकार की स्थिति भारत की है। भारतवासी भी यदि कर्म करें और परिश्रम करें तो विश्व का कोई भी राष्ट्र उनके सम्मुख किसी भी दृष्टि में ठहर नहीं पावेगा। मनुष्य जिस कार्य में तन-मन से लग जाता है अर्थात् परिश्रम करता है उसमें पूर्ण सफलता उसे प्राप्त हो सकती है। भारत में अधिकांश लोग एक ही व्यवसाय करते हैं पर परिश्रम सभी नहीं करते। कोई परिश्रम करता है और कोई परिश्रम में कमी रखता है। परिणाम स्वरूप उसे उसा परिणाम से फल भी मिलता है। उदाहरणार्थ यदि हमें कोई भवन बनवाना हो तो उसके दो साधन हैं एक ठेका देकर और दूसरा प्रतिदिन की मजदूरी पर। प्रतिदिन की मजदूरी वाला अधिक परिश्रम नहीं करेगा क्योंकि उसे ज्ञात है कि उसे निश्चित धन प्रतिदिन मिलता रहेगा जब कि ठेकेदार परिश्रम करके शीघ्रातिशीघ्र कार्य को समाप्त करने का प्रयास करेगा, क्योंकि उसे ज्ञात है कि उसे धन तो उतना ही मिलेगा अतः कार्य शीघ्र समाप्त करके दूसरा कार्य प्रारम्भ कर लिया जायगा। इस प्रकार उसको लाभ अधिक होता है। सरकारी कार्य में तो और भी

शिथिलता रहती है। इसका प्रमुख करण यही है कि उसको अपना निश्चित धन मिलते रहना चाहिये, राष्ट्र को क्या हानि और लाभ होती है उससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। सभी व्यक्तिगत स्वार्थ में लीन रहते हैं, राष्ट्रीय स्वार्थ की चिन्ता नहीं रहती। मनुष्य राष्ट्र के लिये अपना कोई दायित्व नही समझता।

भारत में विशेष रूप से परिश्रम न करने की प्रवृक्ति बढ़ती जा रही है इसीलिये आये दिन कल-कारखानों में उपद्रव होते हैं, हड़तालें होती हैं सब लोग परिश्रम तो करते नहीं, तनख्वायें व मजदूरी बढ़वाने के लिये जायज-नाजायज सभी प्रकार का दबाव डालते हैं। परिणाम यह निकलता है कि उनके वेतन तो बढ़ जाते हैं और कार्यक्षमता बढ़ती नहीं। इसीलिये वस्तुओं पर कीमतें बढ़ती जाती हैं। वे इतनी मँहगी होती हैं और इतनी हीन होती हैं कि उनमें से अधिकाँश विदेशी बाजारों में वहां की या अन्य देशों की बनी वस्तुओं के मुकाबले में टिक तो पाती ही नहीं, राष्ट्र की बदनामी अलग से होती है।

अभी तक हमारे भारतीय भाई राष्ट्र हित को नहीं समझ पाये हैं। जब तक वे राष्ट्र हित को नहीं समझेंगे और परिश्रम नहीं करेंगे तब तक किसी भी प्रकार से देश की दरिद्रता दूर नही हो सकती। विश्व के सभी राष्ट्र परिश्रम से ही धनवान हुये हैं तथा विश्व के और राष्ट्रों के सामने उनका मान बना है।

यदि हम अपने भारत के प्राचीन इतिहास को उठाकर देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि हमारे प्राचीन पूर्वजों ने, ऋषि-मुनियों ने कितना परिश्रम किया था। उन्हीं के परिश्रम के कारण भारत किसी समय सोने की चिड़िया कहलाता था। अपने परिश्रम से ही भारतीय कभी विश्व के सम्राट थे, स्वर्ग में भी

राज्य करते थे। बड़े-बड़े आविष्कार किये थे जो आज तक नहीं हो पाये हैं। उनमें से कुछ आविष्कार हुये भी हैं तो वे उस कोटि के नहीं हो पाये। तब परिश्रम के द्वारा ही सर्वत्र चारों दिशाओं में भारतीयों की तूती बोलती थी। आज भी टाटा, डालमिया, बिरला, मोदी आदि परिश्रम से ही इतने बड़े बने हैं। इन लोगों का भी इतिहास यदि उठाकर देखा जाय तो ये सभी बड़े साधारण व्यक्तित्व वाले थे। लेकिन आज इनका कितना नाम और यश देश-विदेश में फैला हुआ है। यह सब उनके परिश्रम का परिणाम ही है। एक बात और देखते हैं और वह यह है कि १६४७ के विभाजन के समय जितने पंजाबी भाई इधर आये थे, सभी आज अपने परिश्रम से ही धनवान और बड़े बने हुये हैं। सभी बड़े-बड़े व्यवसायों पर उनका एकाधिपत्य है। यहां के निवासी इतने पिछड़ गये हैं कि अपने पूर्वजों के व्यवसाय को भी छोड़ते चले जा रहे हैं। कारण ? परिश्रम न करना ही है। एक दिन ऐसा आ सकता है कि यहाँ के निवासी सिवाय मुहताज रहने के और कुछ न रह जावेंगे।

अतः सभी को परिश्रम करना चाहिये। परिश्रम और कर्म में ही उच्चता है। उसी में धन है, उसी में महानता है और उसी में राष्ट्र का गौरव है। कविता के निम्न अंश से भी यही ध्वनि निकलती है कि परिश्रम ही सर्वस्व है, परिश्रम से ही स्वाधीनता, सुख, उच्चता आदि मिलते हैं। कर्म और परिश्रम ही फल देता है। गीता में श्रीकृष्ण ने भी कर्म करने की प्रेरणा दी है और कर्म को ही प्रधान माना है।

सुनो सकल भारत सन्तान, करो कर्म जिस में हो मान ।
सब सुख का कारण है कर्म, यही मुख्य मानव का धर्म ।
पराधीन किंवा हो स्वाधीन, हो धनाड्य अथवा अतिदीन ।
करो सुकर्म धर्म में लीन, होकर नित्य आलस्य विहीन ।
जितने हुए विज्ञ अरु ज्ञानी, विमल शरीर, मुनि अरु दानी ।
सो जानहु सब कर्म प्रभाव, कर्म हीन को सभी अभाव ।
पाकर यह दुर्लभ नर देह, बना नहीं आलस्य का गेह ।
जब तक रहे देह में प्राण, तब तक करो कर्म सम्मान ।

: ५१ :

मानव की मान्यता

संसार के बुद्धि प्रधान प्राणी अपना व्यक्तिगत महत्व इस समाज में समझते हैं। भले ही वह समाज किसी भी प्रकार का हो। इन प्राणियों में से मानव तो ऐसा प्राणी है जो समाज में स्वयं को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बनाये रखना चाहता है भले ही उसे अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कितने ही प्रयास करने पड़ें, कितना ही परिश्रम करना पड़े तथा कितनी ही परेशानियाँ उठानी पड़ें। माँ, बच्चा, गुरु, शिष्य, अध्यापक, विद्यार्थी, कारीगर, सेवक, वकील, व्यापारी, डाक्टर आदि सभी इसी प्रकार का प्रयास करते रहते हैं। ये चाहते हैं कि समाज में मेरी अधिक मान्यता हो और मेरे सम्मुख कोई दूसरा टिक न सके। इसी भावना का अन्त ईर्ष्या और अहं में होता है। मानव यह कदापि नहीं चाहेगा कि लोग उसे महत्वहीन समझने लगें। वह यही चाहता रहेगा कि बह उन्नति करे और सभी उसे चाहें और मान्यता प्रदान करें।

समाज में मान्यता प्राप्त करने का एक साधारण सा सिद्धांत है कि आप दूसरों को मान्यता दें, दूसरे आपको मान्यता देंगे। आप समाज के अन्य लोगों को महत्व नहीं देंगे तो अन्य लोग आपको क्यों महत्व देने लगें? दूसरों की उन्नति में

सहायक होना तथा दूसरों को प्रकाश में लाना आपकी प्रगति और सामाजिक मान्यता में सच्चे सहायक हैं। यदि आप अपने साथियों के मार्ग में बाधक होंगे और उनकी उन्नति को देखकर ईर्ष्या करेंगे तो निश्चित समझिये कि आपके साथ भी यही व्यवहार होगा और आपके साथ भी यही भावना हो जायगी। जब तक आप समाज तथा उसके सदस्यों के प्रति सच्ची सहानुभूति और सद्भावना नहीं रखेंगे तब तक आपको भी सफलता नही मिल सकती। आपको चाहिए कि अन्यों की बातों को ध्यान से सुनें, उनके कार्यकलापों से लाभ उठावें तथा उन्हें ऐसा अनुभव करावें कि वे यही समझें कि उनके बड़े हितैषी और भक्त आप ही हैं। जब आप इस प्रकार करेंगे तो अन्य लोग भी आपके साथ इसी प्रकार करेंगे और भक्त बन जावेंगे और तभी आप समाज में उन्नति कर पावेंगे। इसी से आपको तथा समाज को आनन्द मिलेगा और एक दूसरे के सम्बन्ध दृढ़ तथा मधुर होंगे। एक दूसरे का आदर और सम्मान करने से ही मधुरता और आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।

मैं तो यह समझता हूँ कि जब हम स्वयं हीनता की भावना के शिकार नहीं होना चाहते, तो हम यह क्यों सोचें कि दूसरे हमसे हीन हों। वास्तव में हीनता की भावना का किसी में भी होना हानिप्रद ही है। सम्पूर्ण समाज के सम्पूर्ण मानव एक दूसरे को ऊँचा ही समझें। इस महत्ता और हीनता में एक ही भावना होती है और वह यह कि हम अपनी महत्ता दिखाकर हीनों पर शासन करें, आज के युग में जो सर्वथा अनुचित सा प्रतीत होता है। यदि हम सभी अपनी महत्ता प्रदर्शित करने की भावना छोड़ दें तो सभी के सम्बन्ध एक दूसरे के साथ दृढ़ होंगे तभी सभी की भावनाएँ तृप्त होती रहेंगी। आप अपने विचारों

और इच्छाओं के स्थान पर दूसरों के विचारों और इच्छाओं को विशेष महत्व देंगे तो समाज के साथ-साथ आपको भी आनन्द की प्राप्ति होगी और उन्नति की ओर अग्रसरित होंगे। यदि आप अपनी ही बात को उच्च मानेंगे और अन्य लोगों की बातों को घृणा की दृष्टि से देखेंगे तो आपको अपने कार्यों में सफलता नहीं मिलेगी। आपको तो समाज और उसकी इच्छा के साथ कार्य करना है और सहिष्णुता पूर्वक व्यवहार करना है। परमार्थ और व्यक्तिगत स्वार्थ दोनों को अलग-अलग ही रखना चाहिए। व्यक्तिगत स्वार्थ जैसी निम्नस्तर की वस्तु को तो निकाल ही देना चाहिए, केवल परमार्थ द्वारा ही अपनी मान्यता स्थापित करनी चाहिए।

: ५२ :

EDUCATION

What is education ? There are several definitions of education. 1. Some say it is gaining knowledge. 2. Some say it is an amount of information. 3. Some say it is a source to discus things. 4. Some say it teaches humanity and courtesy. Some say it teaches means of arts of robbery, dacoity, forgery and some criminal acts. Some say it is a source of livelihood. Some say that man can pray to God.

Every person has got different kinds of hidden powers, which can be developed through the medium of education. Knowledge is present in every one. No knowledge comes from outside. It is all in side. It is the education by which character is formed.

Strength of mind is inherent. The intellect is expanded and one can stand on one's own feet by education. Every one wants to command

and no one wants to obey. But education teaches first to obey and then command will come by itself. It always teaches to be a servant then you will be fit to be a master. Education is not such as makes a man machine. Education does not mean to be a library of books. But man should learn to act what he has got from the books. If a man does not act what he has learnt, it is no education. This is the opinion of the educated persons. It teaches humanity and courtesy and it forms the character. It teaches to serve the parents, teachers, elders, society, country and to help the persons, who are in need of help. Education teaches practice to speak sweet words and not to be proud. Universities, colleges, schools are all examining bodies. The idea of sacrifice for the common weal and character is not yet developed in our people of the country, which is very essential for the improvement in various spheres of life.

: ५३ :

ईश्वरीय चमत्कार, महापुरुषों की कृपा तथा प्रार्थना का प्रभाव

ईश्वर की महिमा बड़ी अपरम्पार है। जिस प्रकार से वह चाहता है उसी प्रकार से विश्व के सम्पूर्ण प्राणियों को नचाता है। जब उसकी इच्छा होती है शरीर में से आत्मा का अंश निकाल कर उसे निष्प्राण कर देता है और अपनी इच्छानुसार ही निष्प्राण सी देह में पुनः अपना अंश डालकर उसे पुनर्जीवित कर देता है। पुराण, शास्त्र आदि तो उस तथ्य को प्रतिपादित करते ही हैं, आधुनिक काल में भी इस प्रकार के दृष्टान्तों की, जिन पर परमात्मा की कृपा हुई है, कमी नहीं है। यह बात दूसरी है कि उस देहधारी को अपने कर्मों के अनुसार कष्ट और आनन्द के भोग भोगने पड़ें और उन भोगों को भोगते समय वह अनुभव करे कि ईश्वर क्या है और ईश्वर ने किस प्रकार की कृपा की है? आध्यात्मिक दृष्टिकोण से मृत्यु के अनन्तर आत्मा और परमात्मा का मिलन ही मानव शरीर की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है, तथापि लौकिक रूप से यही मृत्यु बड़ी दुखमयी है। लेकिन यह सब कुछ होता है केवल ईश्वर की

कृपा से। ईश्वर जो भी करता है, वह उसके लिये तो एक अत्यधिक साधारण सी बात है, पर सांसारिकों की दृष्टि में वह ईश्वर का एक अद्‌भुत चमत्कार होता है।

इस प्रकार के चमत्कारों तथा ईश्वरीय कृपा के विषय में पत्र-पत्रिकाओं में तो निरन्तर निकलता ही रहता है और सभी उन्हें पढ़ते हैं। पर इस समय मैं एक ऐसी ही प्रत्यक्ष घटना का वर्णन करूँगा जो स्वयं मेरे ऊपर घटित हुई है। उससे अनुमान क्या पूर्ण विश्वास ही हो जाता है कि ईश्वर का कृपापूर्ण चमत्कार क्या है ? भले ही वह कर्मानुसार हो।

मैं लगभग सतत्तर वर्ष का एक वयोवृद्ध नागरिक हूँ। वृद्धावस्था में छोटी-मोटी बीमारियाँ लगी ही रहती हैं। पर १ जून सन् १९७० ई० को मेरे ऊपर आकस्मिक आक्रमण हुआ भयंकर हार्ट-अटैक का। जैसा कि प्रतिदिन अखबारों में पढ़ते हैं और सुनते हैं, हार्ट अटैक की इस बीमारी से बिरला ही बचता है। प्रथम हार्ट अटैक तो लोग झेल लेते हैं, यदि समय पर डाक्टरी सहायता मिल जाय तो, पर दूसरा और तीसरा हार्ट अटैक बड़ा भयंकर होता है। जब २ जून को मुझे हार्ट अटैक हुआ तो तत्काल ही मेरे भतीजे डा० जनार्दन कोठीवाल आ गये और वही निरन्तर मेरे पास बने रहे। डा० मनचन्दा से भी सहायता और विचार विमर्श मिलता रहा। ५ जून को जब डा० जनार्दन कोठीवाल मेरे दिल आदि का निरीक्षण कर रहे थे तो प्रातः ५-३० बजे पर मुझे दूसरा हार्ट अटैक हुआ। तत्काल ही इंजैक्शन आदि दिये गये। आक्सीजन का प्रबन्ध २ जून से ही चल रहा था। ग्लूकोज चढ़ाने का प्रयास डा० जनार्दन कोठीवाल प्रातः से ही कर रहे थे पर उसकी सुई

नस न मिलने के कारण घुस ही नहीं रही थी। ग्लूकोज के बिना शरीर और हृदय की कमजोरी निरन्तर बढ़ती रही और भी कई हृदय विशेषज्ञ डाक्टरों की सलाह ली गई लेकिन कोई लाभ न हुआ। ग्लूकोज शरीर में नहीं चढ़ाया जा सका। अन्त में सभी डाक्टरों ने सभी प्रयास जब कर लिये तो मेरे बचने की आशा उन्होंने भी छोड़ दी। ५ जून को ही ७ बजे प्रातः जवाब दे दिया कि अब बचने की कोई आशा नहीं है। अतः जो कुछ दान-पुण्य आदि करना हो करा दो, जिन सम्बन्धियों को बुलाना हो बुला लो। अतः सभी सम्बन्धियों को टेलीफोन तथा तार से सूचित कर दिया गया कि हालत बहुत गम्भीर है, आप लोग आ जायँ। पण्डित आदि भी आ गया। दान-पुण्य कराना प्रारम्भ कर दिया। मेरे मुख में गंगाजल और तुलसीदल भी डालना प्रारम्भ कर दिया। चारों ओर घर में रोना-पीटना शुरू हो गया। उधर डा० जनार्दन एवं अन्य सभी डाक्टर निरन्तर उस प्रयास में लगे रहे कि किसी प्रकार ग्लूकोज शरीर के अन्दर चला जाय। दिन के बारह बज गये सिविल सर्जन आदि भी आ गये, पर सभी के प्रयास निष्फल रहे। सभी ने अन्तिम जवाब दे दिया कि १०-१५ मिनट के अन्दर यदि ग्लूकोज शरीर में नहीं पहुँच पाया तो हृदय काम करना बन्द कर देगा और शरीर शान्त पड़ जायगा। मैं तो अचेतन्य पड़ा था, मेरे दोनों लड़के, बहुएँ, बच्चे और सभी नाते-रिश्तेदार आदि बहुत अधिक दुखी थे और बढ़े मायूस से हो चुके थे। क्योंकि मेरे बचने की जो क्षीण आशा थी वह भी क्रमशः समाप्त होती जा रही थी।

अचानक ही लगभग साढ़ बारह बजे डा० जनार्दन ग्लूकोज की सुई मेरे शरीर में लगाने में सफल हो गये। उन्हें एक बहुत

बड़ी सफलता मिली। दो-दो, एक-एक बूँद ग्लूकोज के पानी की शरीर में जाने लगी। रात्रि के दस बजे तक एक पूरी बोतल ग्लूकोज की शरीर में पहुँच गई। इस समय सभी डाक्टरों ने मिलकर पुनः मेरे शरीर और हृदय की जाँच की और मेरे बच जाने की आशा उन्हें होने लगी। घर भर में खुशी की लहर फैल गई। यह सब उसी चमत्कारी ईश्वर का ही चमत्कार तो था, जिसने मृतप्रायः को पुनर्जीवित कर दिया।

६ जून को १० बजे के लगभग दिल्ली से डा० शर्मा जो हृदय विशेषज्ञ हैं, भी आ गये। उनके साथ २-३ डाक्टर और थे। उन सभी ने पुनः मेरे शरीर और हृदय का गहन अध्ययन और निरीक्षण किया और मेरे बच जाने की आशा व्यक्त की। उपचार निरन्तर चलता रहा। डा० जनार्दन चौबीसों घंटे मेरे ही समीप रहते थे और स्वयं ही दवाएँ, इंजैक्शन आदि देते रहते थे। मेरे दोनों पुत्र (परमात्मा शरण और धर्मात्मा शरण) भी चौबीसों घंटे वहीं बने रहते थे और मेरी देख-भाल करते थे।

कर्मों का सभवतः मेरे पूर्व जन्म के कर्मों का परिणाम ही होगा, जो जीवन और मृत्यु के झूले में कई दिन तक झूलता रहा। लेकिन ईश्वर की कृपा ने और सभी मित्रों और संबधियों की सद्भावनाओं ने मुझे बचा लिया।

अभी तो मुझे और भी कष्ट भोगने थे, अतः इसी बीच मुझे बुखार भी आ गया और २४ जून को डाक्टरों ने कहा कि प्रोटेस्टेन्ट ग्लांडस बढ़ गये हैं। इसका कारण यही था कि लगभग १ माह से निरन्तर पलंग पर चित पड़ा रहा, करवट तक नहीं ली। घूमना-फिरना तो बहुत दूर की वस्तु थी।

परिणाम यह निकला कि मेरे मूत्राशय में गड़बड़ी हो गई और मूत्र के बाहर निकलने में बहुत परेशानी होने लगी। क्योंकि अभी निर्बलता बहुत अधिक थी हार्ट अटैक के कारण, इसलिये अधिक हिल-डुल भी नहीं सकता था। अतः डाक्टरों की राय हुई कि पेशाब करने के लिये रबर की नली (कैथेड्रल) डाल दी जाय और उसी दिन रबर की नली डाल दी गई। नली डालते समय बड़ा कष्ट हुआ। क्रमशः मैं अब कुछ स्वस्थ होने लगा, थोड़ा बहुत खाने भी लगा। लेकिन मूत्र की समस्या ज्यों की त्यों बनी रही। अब कमरे में से बरामडे में भी आकर लेटने लगा, लेकिन पेशाब की नली लगी रहती थी और साथ में एक बोतल रहती थी, जिसमें नली के द्वारा मूत्राशय से थोड़ा थोड़ा मूत्र निरन्तर आता रहता था। इस से कभी-कभी तो मुझे बड़ा घृणा होती थी, कष्ट तो होता ही था। कभी-कभी तो नली निकल जाती थी और बड़े कष्ट सहन करके उसे पुनः लगवाना पड़ता था। पुनः दिल्ली और लखनऊ के प्रसिद्ध डाक्टरों से सलाह ली गई। मूत्राशय के आप्रेशन की राय किसी भी डाक्टर की नहीं हुई। अतः यहाँ के कुछ डाक्टर जो आप्रेशन के लिये कह रहे थे, उनकी राय स्थगित हो गई। इस स्थगन का सबसे बड़ा कारण मेरी दुर्बलता ही थी। अभी मेरे कष्टों का अन्त नहीं हुआ।

डाक्टरों ने एक और सलाह दी जिससे मूत्र बिना कष्ट के निकलता रहे। उन्होंने कहा कि टूंड़ी के पास एक छिद्र कर दिया जाय तथा उसमें रबड़ की एक छोटी सी नली फिट कर दी जाय जिसका सम्बन्ध एक बोतल से कर दिया जाय, जिसे या तो हाथ में रखा जाय या शरीर के किसी ऐसे अंग के साथ बाँध दिया जाय जहां सरलता पूर्वक बँध सके। या बिना नली

के ही मूत्र आता रहे। डाक्टरों की इस राय से मेरे कष्ट का देखकर मेरे लड़के सहमत हो गये और टूंड़ी के पास छिद्र करने की तिथि तय कर दी गई। जब मैंने इस निर्णय को सुना तो मुझे बड़ा भारी दुख हुआ। मैं भगवान से कहता था कि हे प्रभु इस प्रकार से कष्ट देने और घृणित अवस्था में जीवित रखने (क्यों कि स्वाभाविक था, जब छिद्र से मूत्र निकलता तो मेरे वस्त्र खराब होते और वह मूत्र अन्य स्थानों पर भी गिरता) से अच्छा तो यही था कि हार्ट अटैक के समय ही मुझे समाप्त कर दिया होता। क्या हार्ट अटैक से इसी कारण मेरी जीवन रक्षा की थी कि मैं जीवन पर्यन्त कष्ट झेलूं और घृणित जीवन व्यतीत करूँ ? मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरा जीवन अब संसार में व्यर्थ हो जायगा। अतः रात, दिन ईश्वर से मैं यही प्रार्थना करता रहता था कि या तो मुझे इस दुनिया से उठा लो अथवा मेरे इस मूत्र के रोग को दूर करो ताकि पेट में छिद्र न करना पड़े।

इधर तो मैं भगवान से निरन्तर प्रार्थना कर रहा था, और उधर डाक्टरों ने मेरे पेट में छिद्र करने की तैयारियाँ प्रारम्भ कर दी। डाक्टर और सिविल सर्जन आदि अपनी तैयारी करके आये और मेरे रक्त आदि की जाँच सर्व प्रथम की। जाँच से उन्हें ज्ञात हुआ कि मेरा रक्त अभी काफी तरल है, जब तक यह गाढ़ा न हो तब तक आपरेशन नहीं किया जा सकता। अतः उन्होंने रक्त गाढ़ा करने की दवाएँ और इंजेक्शन आदि दिये। इस प्रकार आपरेशन का पहला अवसर निकल गया। कुछ दिन बाद पुनः तिथि तय की गई। और डाक्टर आदि आ गये अपनी सम्पूर्ण साज-सज्जा सहित। सिविल सर्जन लगभग बीस मिनट पश्चात आये। आते ही उन्होंने छिद्र करने की

सभी तैयारियाँ पूर्ण करा दीं। मैं असहाय-सा देख रहा था और ईश्वर से प्रार्थना कर रहा था। उनकी तैयारियों को देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा था कि बीस मिनट के अन्दर-अन्दर आपरेशन हो जायगा और मैं सदा के लिए घृणित जीवन व्यतीत करने को बाध्य हो जाऊँगा। लेकिन उसी समय सिविल सर्जन ने अकस्मात ही कहा कि आज मेरा मन आपरेशन करने के लिये नहीं कर रहा, फिर कभी करूँगा। और यह कहकर वे चले गये। अन्य डाक्टर भी थोड़ी देर पश्चात चले गये।

इस भाँति दो बार आपरेशन टला। मुझे कुछ ऐसा आभास होने लगा कि ईश्वर ने मेरी रुदनपूर्ण प्रार्थना सुन ली है, और वह कुछ चमत्कार करने वाला है, इसीलिये उसने दो बार आपरेशन को टाला है। अन्यथा प्रथम बार में ही छिद्र हो जाता। फिर भी मैं डरता ही रहा कि पता नहीं कब सिविल सर्जन अपने साज-सामान सहित छिद्र करने आ जाय। मैं ईश्वर से अब भी निरन्तर उसी प्रकार की प्रार्थना करता रहा कि या तो मुझे इस संसार से उठा लो अथवा मेरा यह असह्य और घृणित दुख दूर कर दो।

भगवान का चमत्कार और महापुरुषों की कृपा देखिये कि उन्होंने असम्भव को सम्भव कर दिया। दूसरी बार की आपरेशन की तिथि टलने के चार-पाँच दिन बाद मैं लेटा हुआ था और भगवान से अपनी प्रार्थना कर रहा था। प्रातः का लगभग चार और पाँच के मध्य का समय होगा, नाइट बल्ब जल रहा था। कुछ तन्द्राअवस्था में करवट लेकर पड़ा था अपने कमरे में। शेष लोग सोये हुए थे, कुछ बरामदे में तथा कुछ ड्राइंग-रूम में। तभी यकायक मुझे करवट बदलने की इच्छा हुई। मैंने तत्काल

ही करवट बदली तो मैं क्या देखता हूं कि मेरे समक्ष श्रीगंगोत्री निवासी स्वामी कृष्णाश्रम जी साक्षात रूप में खड़े हैं। मैं जब गंगोत्री जी गया था तो मैंने उनके दर्शन किये थे। वे गंगोत्री जैसे अत्यधिक शीत-प्रधान प्रदेश में भी पूर्णतः नग्न रहते हैं। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि वे कितने उच्चकोटि के महात्मा और महापुरुष होंगे। मेरे हृदय में प्रारम्भ से ही महात्माओं और महापुरुषों के प्रति आस्था और श्रद्धा रही है। इस बीमारी की असहायावस्था में भी वह आस्था ज्यों की त्यों बनी रही। मैं उठ तो नहीं सकता था, मैंने लेटे ही लेटे हाथ जोड़कर वहाँ पड़ी हुई कुर्सी की ओर संकेत करके उनसे बैठने की प्रार्थना की। वह इस समय लंगोटी बाँधे हुए थे। क्योंकि मैं इससे पूर्व एक बार इनके दर्शन कर चुका था, अतः मैं इन्हें पहचान गया। मैंने दो बार प्रार्थना की बैठ जाने की और पूछा कि आपकी क्या सेवा करूँ, लेकिन वह न तो बैठे ही और न ही कुछ बोले। वह निरन्तर मेरी ओर देखे जा रहे थे। मुझे थोड़ा-सा भय भी लगा। मैं किसी को पुकार पाने की स्थिति में भी नहीं था। मैं निरन्तर भगवान से प्रार्थना करे जा रहा था। तीसरी बार मैंने पुनः उनसे हाथ जोड़े हुए ही प्रार्थना की, "महाराज! आप बैठ जाइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ। मैं तो ऐसी अवस्था में हूँ कि उठ भी नहीं सकता आपका स्वागत करने के लिये।" इतना सुनकर वे थोड़ा-सा मुस्कराये, और अर्न्तध्यान हो गये। बोले एक भी शब्द नहीं। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। प्रातःकाल हो चुका था। अतः सभी जाग गये। मैंने भी देखा कि मेरे कमरे का द्वार पूर्ववत बन्द है, और उसमें भी किसी के अन्दर आने या बाहर जाने की कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती थी। मैंने धर्मात्मा शरण तथा बहू को सारी

घटना सुनाई। बाहर बरामदे में जो लोग सो रहे थे, उनसे भी कहा, लेकिन सभी ने कहा कि हमने किसी को भी आते-जाते नहीं देखा। मुझे और भी आश्चर्य हुआ। मैं यह सोचकर रह गया कि यह भी ईश्वर की कोई लीला ही थी। वैसे कुछ लोगों ने तो ईश्वर के इस चमत्कार पर विश्वास भी किया, पर कुछ ने इसे पूर्णतः स्वप्न मात्र ही बताया। महात्मा जी के दर्शन करके मुझे कुछ ऐसा आभास और विश्वास होने लगा था कि ईश्वर ने मेरी प्रार्थना को सुन लिया है।

दो-तीन दिन उपरान्त फिर वही छिद्र करने की बात होने लगी और तारीख तय कर दी गई। मैंने इस बार कहा कि जब इतने दिन से आपरेशन को आप लोग टालते आ रहे हैं, तो दस-पाँच दिन और मेरे कहने से रुक जाइये। डाक्टरों ने कहा ठीक है, रुकने में कोई हानि नहीं है।

इसी प्रकार लगभग एक सप्ताह निकल गया। अचानक एक दिन मैं क्या देखता हूँ कि एक युवा महात्मा कोठी के द्वार से प्रवेश कर रहे हैं। मैंने इनके आज तक कभी दर्शन नहीं किये थे। इनके साथ प्रतापसिंह गर्ल्स इण्टर कालिज की प्रधानाचार्या सरस्वती भटनागर भी थीं। सम्भवतः वही इन्हें लिवाकर लाई थीं। थोड़ी देर में वे दोनों मेरे पास आकर बैठ गये। महात्मा जी ने मेरी बीमारी के विषय में पूछ-ताछ की। मैंने प्रारम्भ से अन्त तक अपनी बीमारी का पूर्ण इतिहास उन्हें सुना दिया। उनसे भी मैंने कह दिया कि अब तो मैं ईश्वर से यही प्रार्थना कर रहा हूँ कि या तो मुझे इस संसार से उठा ले अन्यथा इस असाध्य कष्ट से मुक्ति दे। महात्मा जी थोड़ी देर तक मौन रहे, फिर उसी भाँति मुस्कराये थे। उनको मुस्कराते देखकर

मुझे ऐसा आभास होने लगा जैसे साक्षात स्वामी कृष्णाश्रमजी ही मुस्करा रहे हों। लगभग पाँच मिनट बाद वे उसी मुस्करा-हठ की प्रसन्न मुद्रा में बोले, "ठीक है, मैं तुम्हारी यह बीमारी दूर करूँगा। तुम्हें मूत्र निकालने के लिये पेट में छिद्र कराने की आवश्यकता नहीं है।" मुझे ही क्या वहाँ बैठे हुए लोगों में से (जिनमें कुछ डाक्टर भी थे) किसी को भी महात्मा जी की बात का विश्वास न आया। कई सज्जनों ने कहा—साहू साहब आप किस फेर में पड़े हैं, यह कोई चलता-फिरता सन्यासी है, सौ-दो-सौ रुपया लेकर अदृश्य हो जायगा, और फिर पता भी नहीं चलेगा कि वह कौन था और कहाँ से आया था। मैंने कहा, भाई ! आपरेशन तो कराना ही है, लेकिन चार-छै: दिन बाद सही, तब तक इन्हीं महात्मा का इलाज चलने दें। डाक्टरों ने विरोध किया, पर बाद में सभी ने मेरी बात मान ली।

मैंने उन नवागन्तुक और युवा महात्मा से कहा—ठीक है, कल से आप मेरा उपचार प्रारम्भ कर दीजिये। महात्मा जी प्रातः ही मेरे निवास-स्थान पर आ गये। आते ही उन्होंने चार-छँः वस्तुएँ मँगाईं। उनमें से एक वस्तु थी तरबूज। महात्मा जी ने कहा था कि तरबूज ताजे होने चाहिये। मेरे पुत्र धर्मात्मा शरण पाँच-सात सिपाहियों को तरबूज लाने के लिये कई गाँवों में भेज दिया, यद्यपि यह मौसम तरबूजों का नहीं था, फिर भी सिपाही कहीं से ढूँढकर तरबूज ले ही आये। पहले दिन महात्मा जी ने कोई लेप बनाकर दिया मूत्राशय पर लगाने के लिये। दूसरे दिन वे फिर आये और ताजा तरबूज को काटकर कई भाग कर दिये और कहा कि एक-एक टुकड़े को तब तक मूत्राशय पर लगाते रहें जब तक कि तरबूज का वह टुकड़ा गरम न हो जाय। मैंने ऐसा ही किया। प्रतिदिन ताजे तरबूज आते थे

और यही प्रक्रिया तथा कुछ लेपादि की प्रक्रिया दुहराई जाती रही। सभी लोग व्यंग में कहा करते थे कि जब बड़े-बड़े डाक्टर हारकर बैठ गये तो मामूली-सा दीखने वाला यह सन्यासी क्या इलाज कर सकता है। मैं शांति से सबकी बातें सुनता रहता था और भगवान से प्रार्थना करता रहता था।

रबर की नली से मूत्र आने में भी बड़ा कष्ट होता था। चौथे दिन से मुझे ऐसा अनुभव होने लगा कि मूत्र आने में अब कष्ट कम होता है। महात्मा जी निरन्तर आते रहे और व्यंग शब्दों की चिन्ता किये बिना अपना उपचार करते रहे। लगभग एक सप्ताह व्यतीत हो गया। मुझे अब कष्ट काफी कम होने लगा था। नींद भी ठीक प्रकार से आ जाती थी। एकाएक एक दिन महात्मा जी ने कहा कि इस रबर की नली को अब निकाल दो। सभी ने इसका विरोध किया। मैंने ईश्वर का नाम लेकर तत्काल ही वह नली निकाल कर एक ओर रख ली। यह सोचकर कि थोड़ी देर बाद यह उतने ही कष्ट के साथ दुबारा लगवानी होगी। लगभग आधा घंटा बाद मुझे पेशाब लगा। महात्मा जी बैठे हुए थे, उन्होंने कहा जाओ मूत्रालय में जाकर पेशाब करो। मैं सहारा लेकर उठा और मूत्रालय गया। मुझे अत्यधिक आश्चर्य हुआ कि बहुत ही कम कष्ट के साथ मुझे मूत्र आया। मैंने वहाँ से निकल कर सभी को यह सूचना दी। सभी लोग (महात्मा जी के अतिरिक्त) आश्चर्यान्वित रह गये। दो चार दिन और इसी प्रकार से महात्मा जी ने उपचार किया और मैं दो-चार दिन बाद पूर्ण स्वस्थ हो गया। मुझे बिना किसी कष्ट के साधारण रूप से पूर्ववत मूत्र आने लगा। लेषमात्र भी कठिनाई नहीं होती थी। डाक्टर लोग भी बिना आप्रेशन के इस उपचार को देखकर

बड़े आश्चर्य में पड़ गये। महात्मा जी कुछ दिन बाद चले गये। तब से आज तक लगभग ढ़ाई वर्ष हो गया मुझे लेशमात्र ही कष्ट होता है पेशाब करने में और मैं अब पूर्ण स्वस्थ हूँ।

ईश्वर की यह कितनी बड़ी महिमा और चमत्कार है, कि जिस बीमारी को बड़े-बड़े डाक्टर लाइलाज बता चुके थे, कह चुके थे कि बिना आप्रेशन के यह ठीक नहीं होगी, वही असाध्य और कष्टमय बीमारी एक महात्मा और महापुरुष के द्वारा ठीक कर दी गई। मैं तो इसे अपनी प्रार्थना का परिणाम और ईश्वर का चमत्कार ही कहूँगा, भले ही उस चमत्कार के माध्यम एक महापुरुष महात्मा रहे हों। मैं जब इस सभी स्थिति का पुनर्निरीक्षण करता हूँ तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इतनी बार आप्रेशन ईश्वर ने ही टाला है अन्यथा आप्रेशन हो जाता और पता नहीं मेरी क्या दशा होती। स्वामी कृष्णाश्रम जी ने जो दर्शन दिये और मुस्कराहट से मेरी ओर देखा उसका स्पष्ट अर्थ था कि मैं किसी न किसी रूप में तेरा उपचार करूँगा, अभी आप्रेशन मत करा, ईश्वर ने मुझे यही बताने के लिए तेरे पास भेजा है। जिन महात्माओं ने मेरा उपचार किया उनके दर्शन भी मुझे आज तक दुबारा नहीं हुए।

मैं भगवान की कृपा और चमत्कार के प्रति आभार प्रगट करने तथा स्वामी कृष्णाश्रम जी के दर्शन करने हाल में ही उत्तरकाशी गया था लेकिन स्वामी जी के दर्शन न हो पाये। वहाँ पहुँच कर ज्ञात हुआ कि स्वामी जी का शरीर शांत हो गया। मैंने अपनी श्रद्धा और समर्थानुसार उत्तरकाशी में सभी महात्माओं का भण्डारा किया और सभी को ईश्वर का यह अनुपम चमत्कार सुनाया। वास्तविकता तो यही है कि यदि

मानव सच्चे मन से ईश्वर की प्रार्थना करे, उसकी मिन्नत करे तो अवश्य ही उसका हृदय एक दिन पिघलेगा और वह किसी भी माध्यम से अपना चमत्कार दिखायेगा और भक्त के कष्टों को अवश्य ही दूर करेगा। ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है। जिनको भी मैंने अपनी यह गाथा सुनाई उन सभी को (उनमें से बहुत से नास्तिक भी थे) ईश्वर में और उसकी प्रार्थना में पूर्ण विश्वास हो गया है।

लेखक का सूक्ष्म परिचय

नाम—शिव शक्ति शरण कोठीवाल।

जन्म—२ जनवरी १८६४।

परिवार—नगर का पूर्व परिचित तथा प्रसिद्ध कोठीवाल परिवार।

पिता—रायसाहब साहू नन्दलाल शरण

जो आजन्म आनरेरी मजिस्ट्रेट रहे, अग्रवाल पाठशाला के १७ वर्ष तक अध्यक्ष रहे, सनातन धर्म सभा के अध्यक्ष रहे। सत्रह वर्ष तक निरन्तर नगरपालिका मुरादाबाद के सदस्य रहे। कोठीवाल धर्मशाला के आजन्म प्रबन्धक रहे, हिन्दू स्कूल मुरादाबाद के उप-प्रधान वर्षों तक रहे तथा अन्य अनेक सामाजिक, शैक्षिक तथा धार्मिक संस्थाओं से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध रहे।

शिक्षा—मुरादाबाद जनपद में।

अभिरुचियाँ—पठन-पाठन, समाज सेवा, लेखों के माध्यम से सद्विचारों का प्रसार, विद्वानों तथा उच्चकोटि के साधु-महात्माओं की सेवा, स्वयं न खाकर दूसरों को खिलाना इत्यादि।

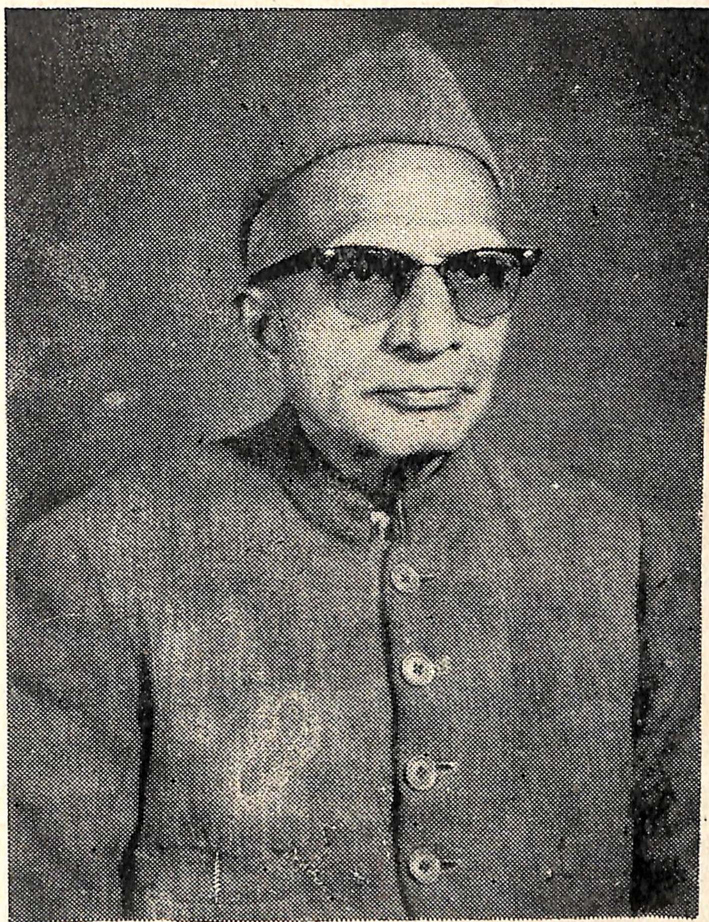
रचनाएँ—विविध पत्र-पत्रिकाओं में अनेक लेख, मणिमाला के नाम से अपनी विचारधारा से पूर्ण एक पुस्तिका तथा वर्तमान वृहद् पुस्तिका।

सामाजिक स्थिति तथा समाज सेवा—
राजकला कन्या पाठशाला के संस्थापक—जो आज पी० डी० ए० इण्टर कालिज है।
अग्रसैन इण्टर कालिज एवं जे० आर० कन्या इण्टर कालिज के अध्यक्ष
पी० डी० ए० कण्या इन्टर कालिज के अध्यक्ष
अग्रवाल सभा के अध्यक्ष
गोकुलदास गर्ल्स महाविद्यालय के प्रबन्धक तथा मंत्री
प्रतापसिंह कन्या इन्टर कालिज के प्रबन्धक
हिन्दू पोस्ट ग्रेजुएट कालिज के उपाध्यक्ष
एच० एस० बी० इण्टर कालिज के उपाध्यछ
हिन्दू इण्टर कालिज के उपाध्यक्ष
ल० ना० ज० श० गर्ल्स इण्टर कालिज के उपाध्यक्ष

आर्थिक स्थिति—बैंकर्स, प्रोप्राइटर—नन्दलाल जनरल मिल्स एण्ड कोल्ड स्टोरेज।
डायरेक्टर—दि मुरादाबाद स्पिनिंग व वीविंग मिल्स १६४० से।
प्रोप्राइटर—शिवशक्ति शरण रघुवीर शरण फर्म।

जनरल—लक्ष्मी और सरस्वती की समान रूप से कृपा, उच्चकोटि के विचारक, सभी धर्मों का आदर, समाज के लाभार्थ विविध कार्य, धन तथा विचारों का सदुपयोग इत्यादि।

अनुभवी, कर्मठ, निष्काम, मननशील एवं शिक्षाप्रेमी
नगर के वयो वृद्ध लेखक



साहू शिवशक्ति शरण कोठीवाल